मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 52 ● वर्ष 6, अंक 8-9 ● अक्टूबर-नवम्बर 2016 ● पाँच रुपये ● 16 पृष्ठ

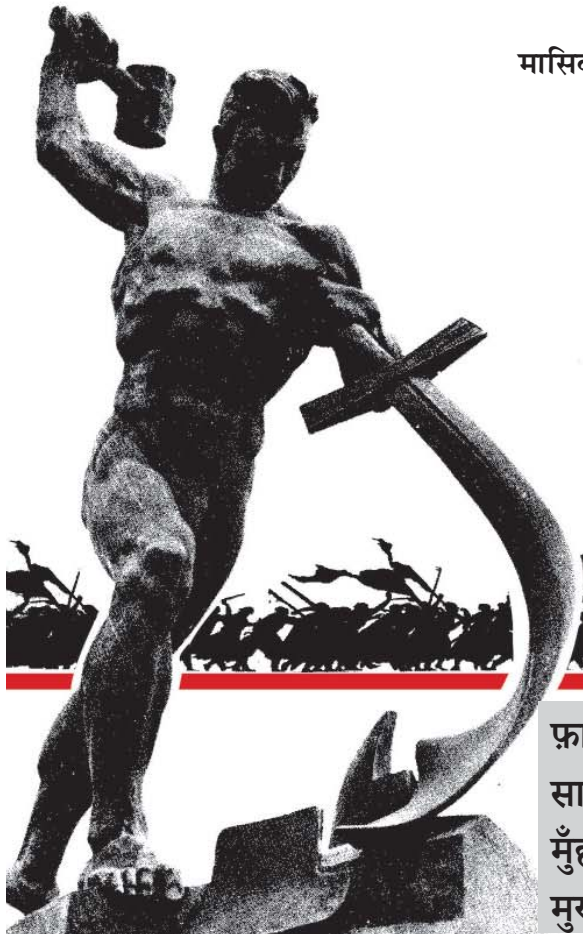

मज़दूर बिगुल

फ़ासिस्ट ट्रम्प की जीत साम्राज्यवाद के चौधरी के मुँह से उतरा उदारवादी मुखौटा 5

ग़रीबों के मुँह का ग्रास छीनकर बढ़ती जीडीपी और मालिकों के मुनाफ़े 7

बड़े नोटों पर पाबन्दी - अमीरों के जुर्मों की सज़ा ग़रीबों को 16

महान अक्टूबर क्रान्ति के शताब्दी वर्ष की शुरुआत

सजेंगे फिर नये लश्कर – मचेगा रण महाभीषण

अक्टूबर क्रान्ति की स्मृतियों से संकल्प लो - नयी सदी की नयी समाजवादी क्रान्तियों की तैयारी करो

बीते 7 नवम्बर को महान अक्टूबर क्रान्ति को 99 वर्ष पूरे हो गये और उसके शताब्दी वर्ष की शुरुआत हो गयी। यह दुनिया भर के मज़दूर वर्ग के लिए एक बेहद महत्वपूर्ण अवसर है। इस पूरे वर्ष दुनिया भर में क्रान्तिकारी मज़दूर व कम्युनिस्ट संगठन अक्टूबर क्रान्ति की गौरवशाली विरासत को याद करेंगे और भावी संघर्षों का संकल्प लेंगे। यह मज़दूर वर्ग की ऐतिहासिक विजय का पर्व है।

हम एक ऐसे समय में अक्टूबर क्रान्ति के सौवें वर्ष में प्रवेश कर रहे हैं, जबकि दुनिया भर में पूँजीवादी व्यवस्था भयंकर संकट से ग्रस्त है। पिछले 8 वर्षों में जिस असमाधेय संकट ने पूँजीवादी विश्व को अपनी जकड़ में ले रखा है, वह जाने का नाम नहीं ले रहा है। हर वर्ष संकट से उबरने के नये दावे कारपोरेट घरानों के कलमघसीट अर्थशास्त्री और बुद्धिजीवी कर रहे हैं। मगर अति-उत्पादन और पूँजी के अति-संचय के संकट से उबरने की बजाय पूँजीवादी व्यवस्था और भी ज़्यादा गहरे संकटों में घिरती जा रही है। इस संकट का बोझ हर जगह हुक्मरानों ने आम मेहनतकश अवाम पर डालने का काम किया है। नतीजतन, मुनाफे की अन्धी हवस और सट्टेबाज़ी के ज़रिये तुरत-फुरत मुनाफ़ा कमा लेने की होड़ के कारण जो संकट पैदा हुआ है, उसका बोझ सरकारी खर्चों में कटौती (यानी, शिक्षा, चिकित्सा, कृषि, खाद्यान्न व अन्य मूलभूत वस्तुओं का महँगा होना), छँटनी और तालाबन्दी के ज़रिये बेरोज़गारी और महँगाई के रूप में मज़दूर वर्ग पर डाला गया। नतीजतन, दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में आम मेहनतकश लोग सड़कों पर उतरे और

सम्पादक मण्डल

कई देशों में जनविद्रोह तक हुए। अरब विश्व में पिछले कुछ वर्षों में कुछ बड़े जनविद्रोह हुए जिन्होंने ट्यूनीशिया और मिस्र में अलोकप्रिय तानाशाह सत्ताओं को उखाड़ फेंका। मिस्र में मुस्लिम ब्रदरहुड की धार्मिक कट्टरपंथी सत्ता को भी जनविद्रोह ने सत्ताच्युत कर दिया। लेकिन उसकी जगह पर आयी सैन्य तानाशाह सत्ता भी मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश जनता के लिए एक दमनकारी सत्ता साबित हुई है। नतीजतन, मिस्र का समाज आज भी सुलग रहा है। अपने संकट से निपटने के लिए साम्राज्यवादी अमेरिका और यूरोप दुनिया भर में जगह-जगह और विशेष तौर पर मध्य-पूर्व और यूक्रेन में युद्ध भड़का रहे हैं। भारतीय पूँजीपति वर्ग भी संकट के कारण बढ़ती बेरोज़गारी, ग़रीबी और महँगाई से मेहनतकश वर्ग का ध्यान खींचने के लिए युद्ध का जुनून भड़काने से लेकर साम्प्रदायिक तनाव और जातिगत वैमनस्य फैलाने तक, हर तरक़ीब का इस्तेमाल कर रहा है। आर्थिक संकट के दौर में दुनिया के तमाम देशों में फासीवादी ताक़तें मज़बूत हो रही हैं, कई जगहों पर वे सत्ता में भी पहुँच रही हैं; कई देशों में प्रतिक्रियावादी, दक्षिणपंथी और मज़दूर-विरोधी पार्टियाँ या नेता सत्ता तक पहुँच रहे हैं। अमेरिका और यूरोप में नस्लवाद को बढ़ावा देकर मज़दूर वर्ग को तोड़ने की कोशिशें की जा रही हैं, प्रवासी मज़दूरों के ख़िलाफ़ गोरे मज़दूरों को भड़काया जा रहा है। इसका असली कारण यह है कि स्वयं गोरी आबादी के भीतर वर्ग अन्तरविरोध तेज़ी से बढ़े हैं। भारत में भी मज़दूर वर्ग को जाट व गैर-जाट, पटेल-पाटीदार व गैर पटेल-पाटीदार तथा मराठा व गैर-मराठा में तोड़ने और आरक्षण के प्रश्न पर उन्हें लड़ाने की साज़िश की जा रही है। ये सभी साज़िशें यही दिखला रही हैं कि पूँजीवादी शासक वर्ग आर्थिक संकट के कारण राजनीतिक संकट के भँवर में भी फँसा हुआ है। अमेरिका में डोनाल्ड ट्रम्प का चुनाव जीतना भी यही दिखला रहा है। लेकिन इन सब साज़िशों के बावजूद दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में मज़दूर अपने हक़ों को लेकर सड़कों पर उतर रहे हैं। दक्षिण यूरोप के तमाम देश, मसलन, यूनान, इटली, पुर्तगाल और स्पेन तक आज मज़दूरों और युवाओं के व्यवस्था-विरोधी आन्दोलनों की चपेट में आ गये हैं। हमारे देश में भी होण्डा और मारुति के मज़दूरों से लेकर

(पेज 8 पर जारी)

काला धन मिटाने के नाम पर नोटबन्दी

अपनी नाकामियाँ छुपाने के लिए मोदी सरकार का एक और धोखा!

बिगुल मज़दूर दस्ता और अन्य जनसंगठनों की ओर से जारी पर्चे के अंश

पिछले 8 नवम्बर की रात से देश भर में अफ़रा-तफ़री का आलम है। बैंकों के बाहर सुबह से रात तक लम्बी-लम्बी कतारें लगीं हैं, सारे काम छोडकर लोग अपनी ही मेहनत और बचत के पैसे पाने के लिए धक्के खा रहे हैं। अस्पतालों में मरीज़ों का इलाज नहीं हो पा रहा, बाज़ार बन्द पड़े हैं, खेती-किसानी के काम रुके हैं, कामगारों को मज़दूरी नहीं मिल पा रही है, आम लोग रोज़मर्रा की मामूली ज़रूरतें तक पूरी नहीं कर पा रहे हैं। नोटबन्दी के कारण अब तक लगभग 50 लोगों की मौत तक हो गयी है। दिलचस्प बात यह है कि देश के बड़े पूँजीपतियों, व्यापारियों, अफ़सरशाहों-नेताशाहों, फिल्मी अभिनेताओं में काले धन पर इस तथाकथित "सर्जिकल स्ट्राइक" से कोई बेचैनी या खलबली नहीं दिखायी दे रही है। जिनके पास काला धन होने की सबसे ज़्यादा सम्भावना है उनमें से कोई बैंकों की कतारों में धक्के खाता नहीं दिख रहा है। उल्टे वे सरकार के इस फ़ैसले का स्वागत कर रहे हैं। आखिर माजरा क्या है?

क्या है कालेधन की असलियत?

दोस्तो, जिस देश और समाज में मेहनत की लूट को क़ानूनी जामा पहना दिया जाय। जहाँ पूँजीपतियों को क़ानूनन यह छूट हो कि वह मेहनतकशों के ख़ून-पसीने को निचोड़कर अपनी तिजोरियाँ भर सकें वहाँ "ग़ैर क़ानूनी" कालाधन पैदा होगा ही। आज देश की 90 फ़ीसदी सम्पत्ति महज़ 10 फ़ीसदी लोगों के पास है और इसमें से आधे से अधिक सम्पत्ति महज़ एक फ़ीसदी लोगों के पास है। यह देश की मेहनत और कुदरत की बेतहाशा लूट से ही सम्भव हुआ है। मोदी सरकार के सत्ता में आने के बाद इसमें बेतहाशा बढ़ोत्तरी हुई है।

साथियो, काला धन वह नहीं होता जिसे बक्सों या तकिये के कवर में या ज़मीन में गाड़कर रखते हैं। सच्चाई यह है कि देश में काले धन का सिर्फ़ 6 प्रतिशत नगदी के रूप में है। आज काले धन का अधिकतम हिस्सा रियल स्टेट, विदेशों में जमा धन और सोने की खरीद आदि में लगता है। कालाधन भी सफेद धन की तरह बाज़ार में घूमता रहता है और इसका मालिक उसे लगातार बढ़ाने की फ़िराक़ में रहता है। आज पैसे के रूप में जो काला धन है वह कुल काले धन का बेहद छोटा हिस्सा है और वह भी लोगों के घरों में नहीं बल्कि बाज़ार में

(पेज 13 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

उधर सीमा पर जवान जान दे रहा है यहाँ तुम जान दो — ताकि दोनों तरफ सेठों की तिजोरियाँ भरती रहें!

साब सड़क टूटी पड़ी है। प्राइमरी स्कूल के बाहर गंदा पानी जमा है। बच्चे स्कूल नहीं जा पा रहे हैं। घरों में कैद होकर रह गये हैं।

शर्म करो। कुछ सहना सीखो। सीमा पर जवान एक जगह कई-कई दिन खड़े रहते हैं।

साब हमारे हैंडपम्प ठप हो गये हैं। इलाके का पानी गन्दा हो गया है। कैंसर फैल रहा है। कुछ कीजिए।

देश आगे बढ़ रहा है। कुछ सहना ही पड़ता है। सीमा पर जवान भी तो झेल रहे हैं।

साब, फसल के ठीक दाम तो दिलाओ। किसान आत्महत्या करने के मजबूर हैं।

इतनी योजनाएं हैं। आत्महत्या करने वाले कायर हैं...। सीमा पर जवान जान दे रहे हैं।

साब सुबह की सरकारी बस बन्द कर दी गयी है। लड़कियों की पढ़ाई संकट में है।

बेटी बचाओ-बेटी पढ़ाओ हमारा ही नारा है। वैसे मातृ शक्ति घर सम्भाले तो ज़्यादा ठीक। देश आगे बढ़ रहा है। सीमा पर जवान...

साब, हमारे सैनिक बेटों की लाशें आने का सिलसिला रुकता ही नहीं...

वंदे मातरम्, गौ माता की जय। हम विश्वगुरु हैं।

साब, यह तो हद है कि अचानक हमारे मेहनत की कमाई के थोड़े-बहुत पैसे भी अवैध हो गये। तीन-चार दिन बीत जाने के बावजूद...

जब कांग्रेस बांस करती थी तब? देश ऐसे ही महान बनेगा? सीमा पर जवान दिन-रात खड़ा है और तुम मिमिया रहे हो।

— धीरेश सैनी
(फ़ेसबुक पर)

ग़रीबों के मुँह का ग्रास छीनकर बढ़ती जीडीपी और मालिकों के मुनाफ़े!

(पेज 7 से आगे)

रखने के बजाय उनसे तिहाई-चौथाई मज़दूरी वाले अस्थायी मजदूरों की ही संख्या बढ़ती जा रही है।

खुद सरकारी लेबर ब्यूरो के सर्वे इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। 8 मुख्य रोज़गार देने वाले उद्योगों के लेबर ब्यूरो सर्वे की पिछली रिपोर्ट थी कि पिछले 8 साल में सबसे कम रोज़गार अर्थात मात्र 1 लाख 35 हज़ार रोज़गार 2015 में पैदा हुए थे। अब अप्रैल-जून 2016 के लेबर ब्यूरो सर्वे की रिपोर्ट के अनुसार अब रोज़गार पैदा होने के बजाय कम होने लगे हैं! इस तिमाही में 0.43% रोज़गार घटे हैं। ऑटोमोबाइल में 18%, आभूषण-जवाहरात में 16%, हैंडलूम/पावरलूम में 12% तथा ट्रांसपोर्ट में 4% श्रमिकों की नौकरियाँ चली गयीं हैं। चमड़ा उद्योग में शून्य रोज़गार वृद्धि है। इसी तरह सेंटर फॉर मॉनिटरिंग ऑफ इंडियन इकॉनोमी (CMIE) की रिपोर्ट के अनुसार इस साल जनवरी में बेरोज़गारी की दर 8.72% थी जो अगस्त में बढकर 9.8% पर जा पहुँची है।

इसी का नतीजा है कि 2011-12 के उपभोक्ता खर्च के नेशनल सैम्पल सर्वे के अनुसार अगर शहर में रहने कोई व्यक्ति 6,383 रु महीना और गाँव में रहने वाला 2,886 रु महीना से ज़्यादा उपभोग पर खर्च करने की हैसियत रखता है तो वह भारत के सबसे अमीर 5% लोगों में शामिल है; मतलब मुकेश अम्बानी, रतन टाटा, गौतम अडानी, मूर्ति, प्रेमजी की कतार में! और इस साल संसद में पेश इकोनॉमिक सर्वे के अनुसार 17 राज्यों में किसान परिवारों की औसत सालाना आमदनी 20,000 रु है अर्थात 1,666 रु महीना! इसमें भी अगर बड़े किसानों को निकाल दें तो यह संख्या और भी कम हो जायेगी। एक और तथ्य सामाजिक-आर्थिक सर्वेक्षण से जिसके अनुसार देश में 21 करोड़ लोग ऐसे हैं जिनके पास शून्य, जी हाँ, ज़ीरो, संसाधन है; इनमें से 8 करोड़ आदिवासी हैं। यह गणना इस आधार पर की जाती है कि साइकिल, रेडियो या मोबाइल/टेलीफोन जैसी 'मूल्यवान' चीज़ें कितने लोगों के पास हैं। इस गणना में यह 21 करोड़ लोग ऐसे थे जिनके पास इसमें से भी कुछ नहीं पाया गया।

उपरोक्त तथ्य यह बताने के लिये काफी हैं कि कॉरपोरेट मीडिया द्वारा बहुप्रचारित "समावेशी" विकास और इसके 'ट्रिकल डाऊन' (बूँद-बूँद कर रिसने) से देश के ग़रीब श्रमिक-अर्धश्रमिक-निम्नमध्यवर्गीय जनता को कितना फ़ायदा मिल रहा है। फ़ायदे के ठीक विपरीत असल में अर्थव्यवस्था की यह सारी 'वृद्धि' इनके मुँह का निवाला छीनकर पूँजीपति वर्ग की तिजोरियों को भरने से ही हो रही है। फिर बढती ग़रीबी, कुपोषण, बीमारियाँ, आत्महत्याएँ अचरज की बात कैसे? बिना समाज की बहुसंख्या के जीवन में सुधार हुए जीडीपी का बढ़ना वैसे ही है जैसे हमारे शरीर की कुछ कोशिकाएँ जब अचानक बढ़ने लगती हैं तो शरीर को मज़बूत नहीं करतीं बल्कि मर्मान्तक पीड़ादायक और जानलेवा कैंसर बनती हैं। उसी तरह पूँजीवादी व्यवस्था में यह ढोलपीटू जीडीपी वृद्धि भी समाज के लिए तरक्की नहीं, पीड़ादायक कैंसर ही बन चुकी है! इसका इलाज जल्दी नहीं किया गया तो यह दर्द-तकलीफ़ बढ़ती ही जायेगी।

— मुकेश त्यागी

पूँजीपतियों के पास दर्जनों अख़बार और टीवी चैनल हैं। मज़दूरों के पास है उनकी आवाज़ 'मज़दूर बिगुल'!
इसे हर मज़दूर के पास पहुँचाने में हमारा साथ दें।

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" **- लेनिन**

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।
यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।
बिगुल के लिए सहयोग भेजिये/जुटाइये।
सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिये।

मज़दूर बिगुल के लिए अपने कारख़ाने, दफ़्तर या बस्ती की रिपोर्टें, लेख, पत्र या सुझाव आप इन तरीक़ों से भेज सकते हैं:
डाक से भेजने का पता: **मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020**
ईमेल से भेजने का पता: **bigulakhbar@gmail.com**

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं। मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।

आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिये भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं:
www.facebook.com/MazdoorBigul

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफवाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की कतारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

बहुत से सदस्यों को 'मज़दूर बिगुल' नियमित भेजा जा रहा है, लेकिन काफ़ी समय से हमें उनकी ओर से न कोई जवाब नहीं मिला और न ही बकाया राशि। आपको बताने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों का यह अख़बार लगातार आर्थिक समस्या के बीच ही निकालना होता है और इसे जारी रखने के लिए हमें आपके सहयोग की ज़रूरत है। अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया जल्द से जल्द अपनी सदस्यता राशि भेज दें। आप हमें मनीआर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता:
मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
बैंक खाते का विवरणः Mazdoor Bigul
खाता संख्याः 0762002109003787, IFSC: PUNB0076200
पंजाब नेशनल बैंक, निशातगंज शाखा, लखनऊ

सदस्यताः वार्षिक: 70 रुपये (डाकख़र्च सहित); आजीवन: 2000 रुपये

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं:
फ़ोनः 0522-2786782, 8853093555, 9936650658
ईमेलः bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक: www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 8853093555
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-94, फ़ोन: 011-64623928
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति - रु. 5/- वार्षिक - रु. 70/- (डाक ख़र्च सहित) आजीवन सदस्यता - रु. 2000/-

अँधेरा है घना मगर संघर्ष है ठना!

होंडा मज़दूरों ने जंतर मंतर पर 52 दिनों तक की भूख हड़ताल! अब राजस्थान में करेंगे फिर से संघर्ष की शुरुआत!

8 महीने के लम्बे संघर्ष के बाद भी होंडा मज़दूर अपनी जिजीविषा और जज्बे के बदौलत लड़ रहे हैं। पिछले 19 सितम्बर से होंडा मज़दूरों ने जंतर मंतर पर अपना खूँटा गाड़ा और अपने संघर्ष की आवाज़ को देशभर के मेहनतकश अवाम के बीच ले गये। यह तब है जब होंडा मेनेजमेंट के पक्ष में सारी पुलिस, कोर्ट-कचहरी, हरियाणा सरकार, राजस्थान सरकार और मोदी सरकार खड़ी है। इस विराट ताक़त का मुकाबला करने वाले होंडा 2एफ़ कामगार समूह ने साबित किया है कि मज़दूर सही रणनीति और बहादुरी के साथ किसी भी ताक़त का मुकाबला कर सकते हैं। 16 फरवरी को बाउन्सरों और पुलिस के बर्बर लाठीचार्ज, धारा 307 के तहत जेल जाना और कई बार पुलिस प्रशासन का कहर झेलने के बाद भी यह संघर्ष जारी है। देश में विदेशी और देशी पूँजी के चाकरों की सरकारों को होंडा मजदूरों ने मिसाल कायम करने वाली चुनौती दी है। परन्तु अभी संघर्ष ख़त्म नहीं हुआ है अभी भी लड़ाई बाकी है।

इस संघर्ष ने 19 सितम्बर से एक नई तेज़ी हासिल की है। 19 सितम्बर के बाद से यूनियन के 5 साथियों नरेश मेहता, सुनील, अविनाश, रवि और विपिन ने जन्तर मन्तर पर भूख हड़ताल शुरू की। यह भूख हड़ताल पूरे 20 दिन चली जिसमें अपनी ज़िन्दगी को दाँव पर लगाकर भी ये साथी लड़ते रहे। तबियत बेहद खराब होने के बावजूद भी भूख हड़ताल पर बैठे साथियों ने अपनी ज़िद और संघर्ष के दम पर इस हड़ताल को जारी रखा। कई बार साथियों की तबियत बेहद ख़राब हो गयी पर उन्होंने अस्पताल में ग्लूकोज़ लगवाने से इनकार कर दिया। 19वें दिन भी नरेश, विपिन और सुनील की तबियत काफी बिगड़ गयी थी परन्तु उन्होंने हड़ताल को अस्पताल में जारी रखा और अगले दिन जंतर मंतर पर अपने साथियों के दबाव में अनशन ख़त्म किया। इस भूख हड़ताल ने होंडा के प्लांट के अन्दर तक खलबली मचा दी थी और कम्पनी में काम करने वाले कई मज़दूर इस संघर्ष का समर्थन करने जंतर मंतर आये, कई साथी उड़ीसा, राजस्थान, हरियाणा व उत्तर प्रदेश में अपने घरों से लौट आये और संघर्ष में जुट गये। अपने 5 साथियों को मौत के मुँह से बचाने के लिए यूनियन ने फ़ैसला लिया कि संघर्ष को आगे बढ़ने के लिए अनिश्चितकालीन भूख हड़ताल की जगह साथी क्रमिक भूख हड़ताल पर बैठेंगे। हालाँकि क्रमिक भूख हड़ताल से शुरू करते हुए अनिश्चितकालीन भूख हड़ताल की ओर जाना ज़्यादा तार्किक रणनीति होती है पर हमें समझना होगा कि लड़ाई को लड़ने में समय-समय पर अपनी और दुश्मन की ताक़त का आकलन करते रहना चाहिए और उसके हिसाब से अपनी लड़ाई को जारी रखना चाहिए। लम्बी लड़ाई को नज़र में रखते हुए यह ठीक फ़ैसला था। जो वक्त के अनुसार अपनी रणनीति नहीं बदलता वो युद्ध में हारता है। 52 दिन तक भूख हड़ताल चलाने के बाद 9 नवम्बर 2016 को होंडा के मज़दूरों ने अपनी क्रमिक भूख हड़ताल ख़त्म करने और राजस्थान में फिर से अपना संघर्ष जारी रखने का निर्णय लिया।

होंडा मज़दूरों को जन समर्थन

होंडा मजदूरों को इस लड़ाई में जनता के बीच दिल्ली आने पर भारी समर्थन भी मिला। इसमें सबसे कारगर तरीका होंडा प्रोडक्ट बहिष्कार अभियान का रहा है। होंडा के संघर्ष से निकला यह विचार किस तरह एक भौतिक शक्ति बन गया यह यहाँ देखा जा सकता है। व्हाट्सएप्प पर शुरू हुआ यह अभियान होंडा मजदूरों की लड़ाई का सबसे कारगर हथियार बन गया जिसके कारण होंडा कम्पनी को काफी दिक्कत का सामना करना पड़ा है। 26 सितम्बर को दिल्ली में हुए बहिष्कार के बाद होंडा ने कोर्ट में जाकर होंडा मजदूरों को शोरूम के आगे प्रदर्शन न करने की माँग की और 5 अक्टूबर को राष्ट्रीय बहिष्कार के बाद कम्पनी ने नरेश मेहता पर केस कर दिया कि वे सोशल मीडिया पर भी होंडा के ख़िलाफ़ कोई प्रचार न कर सकें। पटना में बहिष्कार अभियान चला रहे साथियों पर होंडा के बाउन्सरों ने हमला किया जिसमें एक साथी का सर फूट गया और महिला साथियों के साथ भी बदतमीजी की गयी। जयपुर में भी होंडा के बाउन्सरों ने ऐसा ही हमला किया। कम्पनी को अखबारों में बाकायदा इश्तिहार निकलवाना पड़ा कि होंडा का बहिष्कार अभियान झूठा है परन्तु फैक्टरी भी इस सच को जानती है कि फैक्टरी में 3000 प्रशिक्षित मजदूरों को काम से निकालने के बाद लिए अप्रशिक्षित 8वीं और 10वीं पास मजदूरों से बनी गाड़ियों में दिक्कतें आ रही हैं। इस कारण होंडा के बाज़ार पर असर पड़ रहा है। हमारा मानना है कि हमें आगे लड़ाई में बहिष्कार अभियान का जमकर इस्तेमाल करना होगा क्योंकि इस हथियार ने ही होंडा को सबसे ज़्यादा तिलमिलाने पर मजबूर किया है। इस अभियान के साथ हमने न्याय संघर्ष रैली भी निकाली जिसमें धारुहेडा से दिल्ली तक पद यात्रा की गयी। 2 अक्टूबर को एक विशाल जनसभा का आयोजन किया गया जिसमें नीमराना से लेकर गुडगाँव, मानेसर के मज़दूर व यूनियन प्रतिनिधि शामिल हुए। न्याय संघर्ष यात्रा के अन्त में जे.एन.यू में सभा आयोजित की गयी जिसे प्रशासन ने हर हाल में टालने की कोशिश की परन्तु रोक नहीं पाया।

आगे का संघर्ष

साथियों जंतर मंतर पर शुरू हुए संघर्ष को पूरे 52 दिन तक जुझारू स्पिरिट से लड़ा गया। पिछले 8 महीनों में हमने सबसे अधिक जनसमर्थन जुटाया है। यह समर्थन हमें इसलिए मिला कि हम जंतर मंतर पर खूंटा गाड़ कर बैठे थे व इस संघर्ष को लगातार जनता के बीच लेकर जा रहे थे। बहिष्कार अभियान के ज़रिये होंडा के मुनाफ़े पर चोट कर रहे थे। अब हमें आगे इस संघर्ष को बढाने के लिए इस अनुभव का सार संकलन करना चाहिए। सबसे ज़रूरी बात यह कि हम अपने संघर्ष को तब तक चला पायेंगे जब तक हमें खूँटा गाड़कर बैठने की जगह मिले। यह जगह चाहे दिल्ली में हो, जयपुर में या अलवर में मिले परन्तु हमें एक जगह जमकर विरोध प्रदर्शन करना चाहिए। दूसरा हमें जनता के बीच अपनी बात को पहुँचाते रहना चाहिए जिससे कि हमारी लड़ाई को व्यापक जनसमर्थन मिले। इसमें बहिष्कार अभियान काफी कारगर रहा है जिसे हमें आगे भी जारी रखना चाहिए व जनता तक जाने के लिए अन्य माध्यमों का इस्तेमाल करना चाहिए। अन्त में सबसे ज़रूरी बात यह कि किसी भी आन्दोलन या संघर्ष को पुलिस की गोलियाँ, जेल और लाठियाँ नहीं तोड़ सकती हैं, कोई भी आन्दोलन सिर्फ़ अपनी आन्तरिक कमज़ोरी या अन्दरूनी बिखराव की वजह से टूटता है। आपसी एकता कायम रखने का एकमात्र तरीका यूनियन जनवाद को लागू करना है क्योंकि सिर्फ़ यही यूनियन नेतृत्व को मज़बूत बनता है और यूनियन के सदस्य नेतृत्व के फ़ैसले पर हर हाल में अडिग रहते हैं। यह इस संघर्ष में भी लागू करना चाहिए और अपनी जीत सुनिश्चित करने की सही रणनीति को मिलकर लागू करना होगा।

श्रम-विभाग, पुलिस-प्रशासन और ठेकेदारों की लालच ने ली 15 मज़दूरों की जान

शहीद नगर, साहिबाबाद उत्तर प्रदेश के ज़िला ग़ाज़ियाबाद का एक घनी आबादी वाला गरीबों का रिहाइशी इलाका है। 11 नवम्बर को सुबह करीब 4 बजे यहाँ जैकेट बनाने वाले एक वर्कशाप में आग लगी जिसकी वजह से 15 मज़दूर जलकर और दम घुटने से मर गये। जिस बिल्डिंग में आग लगी वह एक तीन मंज़िला इमारत है। इसके ऊपर की दो मंज़िलों पर, जो किसी मुर्गीखाने के दड़बे से मिलती-जुलती है, करीबन 10 साल से ठेकेदार रिज़वान और नज़ाकत अली जैकेट सिलाई का वर्कशाप चला रहे थे। इनमें से हर एक के पास सिलाई की 15-15 मशीनें थी और कुल मिलाकर 30 मज़दूर दोनों वर्कशापों में काम कर रहे थे।

घटना की रात मज़दूरों ने सुबह 1.30 बजे तक काम किया था और फिर वे वहीं सो रहे थे। आग संभवत: बिजली के शार्ट सर्किट से लगी। काम से थके मज़दूर गहरी नींद में सो रहे थे और ज़्यादातर को आग का पता तक नहीं चला। केवल 2 मज़दूर ही छत से कूदकर अपनी जान बचा पाए। आग लगने की ख़बर 4 बजे तक इलाके में फैल चुकी थी और स्थानीय लोगों ने पुलिस तथा फायर ब्रिगेड को तत्काल ही सूचना दे दी थी। फायर ब्रिगेड की गाड़ी डेढ़ घंटे बाद मौके पर पहुंची लेकिन छोटी टंकी की गाड़ी होने की वजह से इसका पानी तुरंत ही ख़त्म हो गया। तब स्थानीय लोगों ने पास के बहते हुए गंदे नाले से आग बुझाने की कोशिशों को जारी रखा। इसके काफ़ी देर बाद ही फायर ब्रिगेड की दूसरी गाड़ी वहाँ पहुँची। फायर ब्रिगेड की इस लापरवाही पर प्रशासन का कहना है कि आग बुझाने वाली गाडियाँ समय पर पहुँच गयी थी और अगर कहीं देर हुई तो इसकी वजह सड़क पर लगा हुआ जाम थी। स्थानीय लोगों ने बताया कि सुबह 4 बजे इलाके में कोई जाम नहीं रहता है। उन्होंने यह भी बताया कि सबसे पहले पास की चौकी से पुलिस के केवल 3 सिपाही घटनास्थल पर पहुँच थे लेकिन वे तमाशबीन बने रहे और उन्होंने कोई पहलकदमी नहीं दिखाई। इस बीच मौहल्ले के अकरम, नौशाद और ताहिर किसी तरह जलती हुई इमारत के अंदर पहुँचे और घायल मज़दूरों तक मृतकों को बाहर निकाल लाए जिन्हें बैट्री रिक्शा, टैम्पो और एक पीसीआर वैन में डालकर दिल्ली के जी टी बी अस्पताल में पहुँचाया गया। महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि अभी तक एम्बुलेंस सेवा उपलब्ध नहीं करवाई गयी थी और सात बजे जाकर एक एम्बुलेंस घटनास्थल पर पहुँची। 13 मज़दूर मौके पर ही दम तोड़ चुके थे और 2 ने अस्पताल में आखिरी सांसे ली। एक मज़दूर अभी भी ज़िन्दगी और मौत से जूझ रहा है। अग्निकांड के प्रत्यक्षदर्शियों ने बताया कि फायर ब्रिगेड वाले बिना किसी तैयारी के आए हुऐ थे। वे केवल 2 लोग थे और उनके पास बचाव के कोई उपकरण जैसे हेल्मेट, अग्निरोधी सूट आदि कुछ भी नहीं थे। उन्होंने पानी का छिड़काव करने के लिए स्थानीय लोगों को ही पाइप पकड़वा दी। एक व्यक्ति ने बताया कि इस पूरे घटनाक्रम के दौरान कुछ पुलिस वाले नाश्ता करने के लिए चौराहे की तरफ चले गये, कुछ लोगों को निर्देश दे रहे थे और रौब झाड़ रहे थे ओर कुछेक किनारे पर खड़े होकर बातें कर रहे थे और हँस रहे थे। उनमें से एक कह रहा था ''जब फैक्ट्री है तो आग तो लगेगी ही''।

इस इलाके में जैकेट बनाने वाले करीब 150-200 वर्कशाप हैं। इसके साथ ही यहाँ बड़े पैमाने पर जूते भी बनाए जाते है ओर कुछ जगह जीन्स रंगाई का भी काम होता है। यह सभी वर्कशाप अवैध हैं और पुलिस तथा श्रम-विभाग की मिलीभगत के बिना नहीं चल सकते। इन वर्कशापों में तैयार किया गया माल दिल्ली के स्थानीय बाज़ारों और फुटपाथों पर लगने वाली दुकानों में सप्लाई किया जाता है। मज़दूरों ने बताया कि एक जैकेट बनाने के पीछे एक मज़दूर को करीब 30-40 रुपये तक पीसरेट मिलता है। यदि मज़दूर को प्रतिदिन 400-500 रुपये की दिहाड़ी बनानी हो तो उसे 14-16 घंटे काम करना पड़ता है। मज़दूरों ने बताया कि इन वर्कशापों में कोई भी श्रम क़ानून लागू नहीं होता और पुलिस वाले इन अवैध कारखानों को चलते रहने की एवज़ में हर महीने अपना हिस्सा लेकर चले जाते है। इन वर्कशापों के मालिक छोटी पूँजी के मालिक हैं जिन्हें मज़दूर ठेकेदार कहते हैं। यह ठेकेदार 10 से 50 मशीनें डालकर इलाके में जगह-जगह अपने वर्कशाप चला रहे हैं और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के इलाकों से मज़दूरों को बुलाकर अपने यहाँ काम करवाते हैं। यह मज़दूर अपने गाँव, ज़िला या इलाका के आधार पर छोटे-छोटे गुटों में बंटे हुए हैं और इनके बीच वर्ग एकता का अभाव है।

— ग़ाज़ियाबाद संवाददाता

लुधियाना से तीन रिपोर्टें

कारख़ाने में हादसे में मारे गये मज़दूर को मुआवज़ा दिलाने के लिए टेक्सटाईल-हौज़री कामगार यूनियन के नेतृत्व में संघर्ष

19 सितम्बर 2016 की शाम 6 बजे महाजन टेक्सटाइल (मेहरबान, लुधियाना) में देव बहादुर नाम के एक मज़दूर की पावरलूम मशीन पर से उस समय गिरकर मौक्त हो गयी जब वह मशीन पर डिजाइन चेन चढ़ा रहा था। यह काम दो या तीन मज़दूरों के बस का था लेकिन उसे अकेले को ही यह काम करना पड़ रहा था। कारखानों में मज़दूरों की जिन्दगियों के साथ जिस तरह खिलवाड़ किया जा रहा है, उनकी लूट-खसोट हो रही है, यह इसका एक और उदाहरण है। पूँजीपतियों द्वारा अन्य सारे श्रम क़ानूनों सहित सुरक्षा के इन्तज़ामों की सरेआम धज्जियाँ उड़ाये जाने के कारण भयंकर हालात पैदा हो गये हैं। मज़दूरों के साथ रोज़ाना हादसे हो रहे हैं। मज़दूर अपाहिज हो रहे हैं, उनके परिवार तबाह बरबाद हो रहे हैं। सरकार, श्रम विभाग, पुलिस प्रशासन, मज़दूरों की बाजू पकड़ने के लिए तैयार नहीं है। मज़दूरों को खुद ही लड़ना होगा।

देव बहादुर मूल रूप से नेपाल का रहने वाला था। बीस वर्ष पहले वह लुधियाना में मज़दूरी करने के लिए आया। इस समय वह अपनी बीवी, तीन वर्ष से लेकर बारह वर्ष की उम्र के पाँच बच्चों के साथ किराये के कमरे में रह रहा था। दो बच्चे गूँगे हैं। सबसे बड़ी लड़की का दिमागी संतुलन भी ठीक नहीं है। ऐसी हालत में देव बहादुर की मौत से इस ग़रीब परिवार पर मुसीबतों का पहाड़ टूट पड़ा है। मालिक परिवार को महज़ कुछ हज़ार रुपये देकर पीछा छुड़ाने की कोशिश में था लेकिन टेक्सटाईल हौज़री कामगार यूनियन के नेतृत्व में सैकड़ों मज़दूर तीन दिनों तक दिहाड़ियाँ छोड़कर पीड़ित परिवार के साथ खड़े रहे।

कई कारखानों के मज़दूर हड़ताल करके धरने-प्रदर्शन में शामिल हुए। लुधियाना में किसी कारखाने में हादसा होने पर मज़दूर के मारे जाने पर आम तौर पर मालिक पुलिस व श्रम विभाग के अफसरों से मिलीभगत से, दलालों की मदद से पीड़ित परिवारों को 20-25 हज़ार देकर मामला रफा दफा करने में कामयाब हो जाते हैं। लेकिन जब मज़दूर एकजुट होकर लड़ते हैं तो उन्हें अधिक मुआवजा देना पड़ता है। इस मामले में भी मालिक ने यही कोशिश की। लेकिन टेक्सटाईल हौज़री कामगार यूनियन के नेतृत्व में एकजुट हुए मज़दूरों ने पुलिस और मालिक को एक हद तक झुकने के लिए मज़बूर कर दिया। पुलिस को मालिक को हिरासत में लेने पर मज़बूर होना पड़ा। मालिक को पीड़ित परिवार को दो लाख रुपये मुआवजा देना पड़ा।

लुधियाना में 'स्त्री मज़दूर संगठन' की शुरुआत

2 अक्टूबर 2016 को मज़दूर पुस्तकालय, लुधियाना में स्त्रियों की एक मीटिंग हुई। इस मीटिंग में समाज में स्त्रियों की बुरी हालत के बारे में और इस हालत को बदलने के लिए स्त्रियों को जागरूक व संगठित करने की ज़रूरत के बारे में बातचीत की गयी। मज़दूर स्त्रियों की हालत और भी बुरी है। घर और बाहर दोनों जगहों पर स्त्री मज़दूरों को बेहद भयंकर हालातों का सामना करना पड़ता है। मर्दों के बराबर या अधिक काम करने के बावजूद भी उन्हें पुरुष मज़दूरों से कम वेतन मिलता है। उनके लिए कारखानों व अन्य कार्यस्थलों पर आवश्यक सहूलतों की भी कमी है। वे अपने अधिकारों के लिए जागरूक भी नहीं हैं। जिसके चलते वे रोज़मर्रा अनेकों मुसीबतों का सामना करती हैं। जहाँ एक तरफ उनके श्रम की लूट होती है और उन्हें छेड़छाड़, गन्दी शब्दावली व गाली गालौज भी सहना पड़ता है। उन्हें बलात्कार जैसे अपराधों का बड़े स्तर पर सामना करना पड़ रहा है। पुरुष प्रधान मानसिकता ने उन्हें दूसरे दर्जे की नागरिक, पुरुषों की गुलाम बनाकर रखा हुआ है। हर रोज़ स्त्री विरोधी अपराध बढ़ते जा रहे हैं। फिल्मों, नाटकों, गीतों, विज्ञापनों आदि में स्त्रियों को वस्तु के रूप में पेश किया जाता है।

स्त्रियों को पूँजीवादी लूट के ख़िलाफ़ लड़ना होगा। लूट आधारित समाज की पुरुष प्रधान मानसिकता से लड़ना होगा। स्त्री होने के कारण उनके साथ क़दम क़दम पर होने वाली धक्कीशाही के ख़िलाफ़ जागरूक और संगठित होना होगा। यह ठीक है कि मज़दूर स्त्रियों को पुरुष मज़दूरों के कंधे से कंधा जोड़कर पूँजीवादी लूट के ख़िलाफ़ लड़ना है। लेकिन मज़दूर स्त्रियों को उनके अधिकारों के लिए ज़रूरी तौर पर जागरूक और संगठित करने के लिए मज़दूर स्त्रियों के अलग संगठन बनाने होंगे।

इस विचार चर्चा के बाद लुधियाना में 'स्त्री मज़दूर संगठन' की शुरूआत का फ़ैसला किया गया। संयोजक का कार्यभार साथी बलजीत को सौंपा गया।

शहीद-ए-आज़म के जन्मदिवस पर लुधियाना में मज़दूर संगठनों द्वारा जातिवाद विरोधी अभियान

शहीद भगतसिंह के जन्मदिवस पर इस बार टेक्सटाईल हौजरी कामगार यूनियन व कारखाना मज़दूर यूनियन द्वारा 25 से 28 सितम्बर तक लुधियाना में जातिवाद विरोधी अभियान चलाया गया। इस अभियान के तहत यूनियनों द्वारा एक पर्चा जारी किया गया। विभिन्न इलाकों में नुक्कड़ सभाएँ व पैदल मार्च आयोजित किए गये। 28 सितम्बर को मज़दूर पुस्तकालय, ताजपुर रोड, लुधियाना पर जातिवाद के बारे में मुंशी प्रेमचंद की कहानी पर आधारित फिल्म 'सदगति' दिखायी गयी और विचार-चर्चा आयोजित की गयी। अभियान के दौरान वक्ताओं ने कहा कि शहीद भगतसिंह और उनके साथियों की लड़ाई सिर्फ़ अंग्रेज हकूमत के ख़िलाफ़ नहीं थी बल्कि मनुष्य के हाथों मनुष्य के हर तरह के शोषण के ख़िलाफ़ थी। आज भी हमारे समाज में यह लूट जारी है जिसे ख़त्म करने की ज़िम्मेदारी हर इंसाफपसंद व्यक्ति के कंधों पर है। ढाई हज़ार सालों से ज़ारी जातिवाद आज भी हमारे समाज में कोढ़ की तरह मौजूद है। आज भी जाति आधारित श्रम विभाजन जारी है, गन्दगी साफ करने, मैला ढोने का काम दलित जातियों के लोगों को ही करना पड़ता है। आज शहीद भगतसिंह का जन्मदिन मनाना व उन्हें श्रद्धांजलि देना उनके विचारों को अपनाते हुए जातिवाद सहित हर तरह की लूट, दमन, अन्याय के ख़िलाफ़ आवाज़ बुलन्द करके ही सार्थिक हो सकता है।

- बिगुल संवाददाता।

'जातिवाद की समस्या व इसका समाधान' विषय पर विचार गोष्ठी

"जातिवाद के ख़िलाफ़ संघर्ष किये बिना जनता को पूँजीवादी व्यवस्था के ख़िलाफ़ क्रान्तिकारी संघर्ष के लिए एकजुट नहीं किया जा सकता"

बिगुल मज़दूर दस्ता द्वारा डा. अम्बेडकर धर्मशाला, लुधियाना में 'जातिवाद की समस्या व इसका समाधान' पर आयोजित विचार गोष्ठी में 'मज़दूर बिगुल' के सम्पादक साथी सुखविन्दर ने मुख्य वक्ता के तौर पर बात रखी। उन्होंने कहा कि लगभग ढाई हज़ार साल पहले शुरू हुआ जाति आधारित भेदभाव, लूट, दमन आज भी भारतीय समाज के लिए एक गम्भीर समस्या बना हुआ है। मौजूदा जातिवादी व्यवस्था पूँजीवादी व्यवस्था की सेवा कर रही है और यह पूँजीवादी जातिवादी व्यवस्था है। जातिवाद के तीन स्तम्भ हैं- दर्जाबन्दी, काम आधारित विभाजन और जाति के भीतर विवाह। इनमें से मुख्य रूप से आज तीसरा स्तम्भ ही बचा हुआ है जो कि पूँजीवादी व्यवस्था के अनुकूल है।

सुखविन्दर ने कहा कि बहुत से लोग भारत पर अंग्रेज़ी हुकूमत की प्रशंसा करते हुए दावा करते हैं कि इसके कारण जाति व्यवस्था ख़त्म हो रही थी। उन्होंने कहा कि वास्तविक तथ्य इसके विपरीत हैं। भारत के उपनिवेश बन जाने से सामन्ती व्यवस्था की उम्र लम्बी हुई। इसके कारण जाति व्यवस्था भी बची रही। अगर भारत उपनिवेश न बनता तो यहाँ स्वाभाविक तौर पर जो पूँजीवादी विकास होता उसने जाति व्यवस्था पर बड़ी चोट होती।

सुखविन्दर ने कहा कि जातिवाद के ख़ात्मे का रास्ता सिर्फ़ मार्क्सवाद के पास है। मार्क्सवाद और अम्बेडकरवाद को आपस में मिलाने की कोशिशें बेबुनियाद हैं, इनका फ़ायदा नहीं बल्कि नुकसान ही हो रहा है। जय भीम लाल सलाम का नारा एक ग़लत नारा है। डा. अम्बेडकर ने जातीय उत्पीड़न के मुद्दे को उभारने में अहम भूमिका निभायी लेकिन उनके पास जाति व्यवस्था के ख़ात्मे का कोई रास्ता नहीं था। वे भाववादी दर्शन और पूँजीवादी अर्थशास्त्र व राजनीति के पैरोकार थे। डा. अम्बेडकर ने 'जाति का उन्मूलन' लेख में खुद ही कहा है कि जाति का ख़ात्मा नहीं हो सकता। साथी सुखविन्दर ने कहा कि अतीत में जातिवाद की समस्या को समझने में भारतीय कम्युनिस्टों की कमज़ोरी रही है (कई अन्य बुनियादी सवालों को समझने की तरह) लेकिन कम्युनिस्ट ही हैं जिन्होंने जातिवाद के ख़िलाफ़ सबसे अधिक संघर्ष किया है, बेमिसाल लड़ाइयाँ लड़ी हैं, कुर्बानियाँ की हैं।

जातिवाद के ख़िलाफ़ कभी ना लड़ने का दोष लगाते हुए जो लोग कम्युनिस्टों के ख़िलाफ़ कुत्साप्रचार कर रहे हैं वे पूरी तरह ग़लत हैं। सुखविन्दर ने कहा कि जातिवाद का मुकम्मल ख़ात्मा निजी सम्पत्ति के अन्त के साथ ही हो सकता है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि आज हाथ पर हाथ धरे बैठा रहा जाये। अगर आज जातिवाद के ख़िलाफ़ हम संघर्ष नहीं करते तो कभी भी जनता को पूँजीवादी व्यवस्था के ख़िलाफ़ क्रान्तिकारी संघर्ष के लिए एकजुट नहीं कर पायेंगे। हमें जाति-आधारित लूट, दमन, अन्याय, भेदभाव के ख़िलाफ़ ज़ोरदार संघर्ष करना चाहिए। जनता को जातिवादी मूल्य-मान्यताओं से सम्बन्ध विच्छेद के लिए प्रेरित करना चाहिए। कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को जातिवादी मूल्य-मान्यताओं से सम्बन्ध विच्छेद करने का उसूल सख़्ती से निजी जीवन में लागू करना चाहिए जो कि कम्युनिस्ट आन्दोलन की एक बड़ी कमी रही है। उन्होंने कहा कि हमें जाति आधारित संगठन नहीं बनाने चाहिए लेकिन जातिवाद विरोधी संगठन ज़रूर बनाने चाहिए जिनमें सभी जातियों के जातिवाद विरोधी व्यक्ति शामिल हों। दलितवादी संगठनों के साथ मिलकर मुद्दा आधारित संघर्ष किये जा सकते हैं। अन्तरजातीय प्रेम विवाहों का पुरज़ोर समर्थन किया जाना चाहिए। अन्तरजातीय विवाह जाति व्यवस्था पर करारी चोट करते हैं।

साथी सुखविन्दर के बाद रामसेवक, छोटेलाल, निर्भय, रजिन्दर जण्डियाली, तुलसी प्रसाद, मस्तराम, राजेन्द्र, सुनील सिंह, घनश्याम, लक्की, जसप्रीत, व अन्य साथियों ने इस विषय पर अपनी बात रखी और सवाल-जवाब में हिस्सेदारी की। मंच संचालन लखविन्दर ने किया। इस अवसर पर जनचेतना द्वारा क्रान्तिकारी-प्रगतिशील साहित्य की प्रदर्शनी भी लगाई गयी।

— बिगुल संवाददाता

अमेरिकी राष्ट्रपति चुनाव में फ़ासिस्ट ट्रम्प की जीत
साम्राज्यवाद के चौधरी के मुँह से उतरा उदारवादी मुखौटा

अमेरिकी राष्ट्रपति चुनाव में घोर नस्लवादी, स्त्री-विरोधी, प्रवासी-विरोधी, मुस्लिम-विरोधी और लम्पट डोनाल्ड ट्रम्प की जीत से वहाँ का उदारवादी तबका सदमे में है। ग़ौरतलब है कि अमेरिका का उदारवादी तबका, वहाँ का कॉरपोरेट मीडिया और पूँजीपति वर्ग का बड़ा हिस्सा भी हिलेरी क्लिंटन की जीत पर दाँव लगा रहा था और अमेरिका की पहली महिला राष्ट्रपति बनने की घोषणा का बेसब्री से इन्तज़ार कर रहा था। लेकिन ट्रम्प जैसे फ़ासिस्ट प्रवृत्ति के लम्पट व्यक्ति के राष्ट्रपति चुने जाने से विश्व-पूँजीवाद के सिरमौर के मुँह से भी उदारवादी मुखौटा उतर गया है और उसका घिनौना चेहरा सामने आ गया है। यह एक बहुत बड़ी विडम्बना है कि ट्रम्प की यह जीत ढाँचागत संकट की शिकार पूँजीवादी व्यवस्था के ख़िलाफ़ अमेरिका की जनता के ग़ुस्से और बुर्जुआ लोकतंत्र के दायरे के भीतर उसकी लाचारी की भी अभिव्यक्ति है। ट्रम्प की यह जीत 2007 से जारी विश्वव्यापी मन्दी के दौर में दुनिया के तमाम देशों में धुर-दक्षिणपंथी और फ़ासिस्ट ताक़तों के उभार के आम रुझान के ही अनुरूप है।

कई विश्लेषक ट्रम्प की इस जीत के लिए अमेरिकी समाज में व्याप्त नस्लवादी और स्त्री-विरोधी मानसिकता को जिम्मेदार मान रहे हैं। अमेरिकी समाज में पैठी नस्लवादी और स्त्री-विरोधी मानसिकता से इनकार तो हरगिज़ नहीं किया जा सकता, लेकिन ऐसे विश्लेषणों से हम यह नहीं समझ सकते कि ट्रम्प जैसे लम्पट व्यक्ति की राष्ट्रपति के रूप में स्वीकार्यता मौजूदा दौर में ही क्यों बढ़ी। इस सवाल का जवाब हमें वर्ग-विश्लेषण के मार्क्सवादी उपकरण के इस्तेमाल से ही मिल सकता है।

ग़ौरतलब है कि 2007 में अमेरिका में आवासीय बुलबुले के फटने के साथ शुरू हुई विश्वव्यापी महामन्दी अभी तक जारी है। जब यह मन्दी शुरू हुई थी तब अमेरिका में रिपब्लिकन पार्टी का जार्ज बुश राष्ट्रपति था। 2008 के राष्ट्रपति चुनाव में अमेरिकी जनता ने रिपब्लिकन पार्टी को खारिज कर डेमोक्रैटिक पार्टी के बराक ओबामा को इस उम्मीद में राष्ट्रपति चुना था कि उसकी नीतियाँ मन्दी से उबारेंगी। लेकिन ओबामा के दो कार्यकाल पूरा होने पर भी अमेरिकी अर्थव्यवस्था मन्दी के भँवरजाल से बाहर नहीं निकल पायी है। ओबामा ने जनता की गाढ़ी कमाई से कई ट्रिलियन डॉलर के बेलआउट पैकेज देकर बैंकों और वित्तीय महाप्रभुओं को जीवनदान दिया जिसका फ़ायदा बैंकों और कम्पनियों के शीर्ष अधिकारियों को हुआ, लेकिन आम लोगों की ज़िन्दगी की परेशानियाँ बढ़ती ही गयीं। अमेरिका में रोज़गार के नये अवसर नहीं पैदा हो रहे हैं और पिछले आठ वर्षों के दौरान मज़दूर वर्ग के साथ ही साथ टटपुँजिया मध्य वर्ग की भी आमदनी और क्रयशक्ति में तेज़ी से गिरावट देखने में आयी है। इसका नतीजा अमेरिकी समाज में आर्थिक असमानता की खाई के चौड़ा होने के रूप में सामने आया। इस घोर आर्थिक असमानता की अभिव्यक्ति निम्न-बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व में चले 'ऑक्युपाई वॉल स्ट्रीट' आन्दोलन में भी हुई थी जिसका निशाना कॉरपोरेट पूँजी थी। 2012 के राष्ट्रपति चुनाव में हालाँकि ओबामा को जीत हासिल हुई, लेकिन उसे 2008 के मुकाबले बहुत कम वोट मिले थे जो डेमोक्रैटिक पार्टी की घटती लोकप्रियता का ही संकेत था।

अमेरिका का बुर्जुआ लोकतंत्र वहाँ के लोगों को राष्ट्रपति चुनने का जो अधिकार देता है उसका इस्तेमाल करके ज़्यादा से ज़्यादा लोग यह कर सकते हैं कि बुर्जुआ वर्ग के एक नुमाइन्दे से त्रस्त आकर बुर्जुआ वर्ग के दूसरे नुमाइन्दे को चुन लें। इस बार के अमेरिकी राष्ट्रपति चुनावों में अमेरिकी जनता का ग़ुस्सा डेमोक्रैटिक पार्टी ही नहीं बल्कि पूरे बुर्जुआ लोकतंत्र के ख़िलाफ़ देखने में आया। यह इस बात से समझा जा सकता है कि इस बार के चुनाव में 45 प्रतिशत मतदाताओं ने किसी भी उम्मीदवार के पक्ष में वोट नहीं डाला। हिलेरी क्लिंटन और डोनाल्ड ट्रम्प दोनों को महज़ 25 प्रतिशत के आसपास ही वोट मिले। विस्कॉन्सिन, पेन्सिलवेनिया और मिशीगन जैसे राज्य जो कभी डेमोक्रैटिक पार्टी के गढ़ हुआ करते थे उनमें मज़दूर वर्ग का ग़ुस्सा हिलेरी क्लिंटन और डेमोक्रैटिक पार्टी पर फूटा जिसका लाभ डोनाल्ड ट्रम्प को मिला। हालाँकि ट्रम्प खुद एक पूँजीपति और धनपशु है लेकिन उसने आर्थिक मुश्किलों से जूझ रहे अमेरिकी मध्यवर्ग और मज़दूर वर्ग के ग़ुस्से को अपनी सस्ती लोकरंजक जुमलेबाज़ी के ज़रिये जमकर भुनाया। उसने अमेरिका को फिर से महान बनाने के सब्ज़बाग दिखाये। उसने लोगों को यह यकीन दिलाया कि उनकी समस्याओं की वजह बाहर से आ रहे प्रवासी मज़दूर हैं। उसने यहाँ तक कहा कि राष्ट्रपति बनने के बाद आप्रवासन रोकने के लिए वह अमेरिका और मेक्सिको की सीमा पर ऊँची दीवार बनवायेगा। यही नहीं उसने मुसलमानों के ख़िलाफ़ नफ़रत को चरम पर ले जाते हुए कहा कि राष्ट्रपति बनने के बाद वह मुसलमानों के अमेरिका में आने पर प्रतिबन्ध लगा देगा। वर्ग चेतना के अभाव में यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि अमेरिका के मज़दूर वर्ग के एक हिस्से को ये घनघोर मज़दूर-विरोधी बातें जँचीं और उन्होंने ट्रम्प जैसे लम्पट और अय्याश पूँजीपति के पक्ष में वोट देने से गुरेज़ नहीं किया। पिछले चुनाव में ऐसी ही बातों के ज़रिये नरेन्द्र मोदी भी भारत के बहुत से ग़रीबों और मज़दूरों का वोट पाने में कामयाब हो गया था।

डोनाल्ड ट्रम्प जैसे धुर दक्षिणपंथी और फ़ासिस्ट प्रवृत्ति के व्यक्ति के विश्व-पूँजीवाद की चोटी पर विराजमान होने से निश्चय ही अमेरिका ही नहीं बल्कि दुनिया भर के मज़दूरों की मुश्किलें और चुनौतियाँ आने वाले दिनों में बढ़ने वाली हैं। मज़दूर वर्ग को नस्लीय और धार्मिक आधार पर बाँटने की साज़िशें आने वाले दिनों में और परवान चढ़ने वाली हैं। लेकिन ट्रम्प की इस जीत से मज़दूर वर्ग को यह भी संकेत साफ़ मिलता है कि आज के दौर में बुर्जुआ लोकतंत्र से कोई उम्मीद करना अपने आपको झाँसा देना है। बुर्जुआ लोकतंत्र के दायरे के भीतर अपनी चेतना को क़ैद करने का नतीजा मोदी और ट्रम्प जैसे दानवों के रूप में ही सामने आयेगा। आज दुनिया के विभिन्न हिस्सों में परिस्थितियाँ चिल्ला-चिल्लाकर पूँजीवाद के विकल्प की माँग कर रही हैं। इसलिए वोट के ज़रिये लुटेरों के चेहरों को बदलने की चुनावी नौटंकी पर भरोसा करने की बजाय दुनिया के हर हिस्से में मज़दूर वर्ग को पूँजीवाद को कचरे की पेटी में डालकर उसका विकल्प खड़ा करने की अपनी ऐतिहासिक जिम्मेदारी को निभाने के लिए आगे आना ही होगा।

— आनन्द सिंह

नाशिक व पुणे में दलित विरोधी अत्याचारों के ख़िलाफ़ मुम्बई में प्रदर्शन

महाराष्ट्र में पिछले कुछ हफ्तों से लगातार दलितों के विरुद्ध एक हिंसक वातावरण तैयार किया जा रहा है। इसकी शुरुआत अहमदनगर के कोपर्डी में एक लड़की के बलात्कार के बाद से हुई। इस बलात्कार काण्ड के आरोपी दलित थे। इसी बहाने सभी मुख्य चुनावी पार्टियों व संगठनों ने ज़मीनी स्तर पर मराठा आबादी को संगठित करना शुरू किया व बेरोज़गारी व खेती के संकट से बदहाल मराठा आबादी अजा/जजा अत्याचार विरोधी क़ानून को रद्द करने व अपने लिए आरक्षण की माँग को लेकर शहर-शहर में सड़कों पर उतरने लगी। इस आन्दोलन को मराठा मूक मोर्चा का नाम तो दिया गया पर इसकी हकीकत जल्दी ही नाशिक में सामने आ गयी। एक नाबालिग लड़की के साथ छेड़छाड़ के मामले को लेकर दलित बस्तियों को चुन चुनकर टार्गेट किया गया। वाहनों पर स्टीकर देख-देखकर जलाया गया। आठ गाँवों में दलितों के विरुद्ध बड़े पैमाने पर हिंसा हुई जिसमें 30 से ज़्यादा लोग घायल हुए। कई गम्भीर रूप से घायल लोग अभी भी मुम्बई व नाशिक के अस्पतालों में भर्ती हैं। इस पूरे मसले पर पुलिस व प्रशासन मूकदर्शक बना रहा। राज्य के मुख्यमंत्री देवेन्द्र फडनवीस को नरेन्द्र महाराज के जन्मदिन में जाने का समय मिल गया पर घायलों से मिलने का नहीं। उल्टा उन्होंने ये कहकर कि "धर्मसत्ता राज्यसत्ता से बढ़कर है व उसकी मार्गदर्शक है" बतला दिया कि वो जाति व्यवस्था के कितने बड़े समर्थक हैं।

इसी घटना के विरोध में 17 अक्टूबर को अखिल भारतीय जाति विरोधी मंच व नौजवान भारत सभा ने लल्लूभाई कम्पाउंड मानखुर्द के मुख्य चौक पर एक निषेध सभा का आयोजन किया। सभा के दौरान अभाजाविम के बबन ठोके ने बात रखते हुए कहा कि ये 'मराठा मूक मोर्चा' खेती के बढ़ते संकट व पूँजीवादी आर्थिक संकट से जन्मी बेरोज़गारी का नतीजा है। मराठा युवाओं की एक बड़ी आबादी आज बेरोज़गार घूम रही है व उसे इस बात पर बरगलाना बहुत आसान है कि उनकी हिस्से की नौकरियाँ दलित ले जा रहे हैं। हकीकत असल में उल्टी है। मराठा ग़रीब आबादी (खेतिहर मज़दूर, छोटे किसान आदि) व ग़रीब दलित आबादी दोनों को ही आज गाँवों के सम्पन्न मराठा किसान व उद्योगपति लूट रहे हैं। साथ ही सरकारी नीतियों के कारण लगातार बेरोज़गारी बढ़ी है। इस परिस्थिति से उपजे ग़ुस्से को ही आज सभी चुनावी पार्टियाँ भुना रही हैं व पूरे महाराष्ट्र में हर जिले में मराठा आबादी

के लाखों की संख्या में मोर्चे निकाले जा रहे हैं। नाशिक व पुणे में हुई हिंसा सतह के नीचे किये जा रहे कुख्यात प्रचार का ही नतीजा है।

नौजवान भारत सभा के नारायण खराडे ने कहा कि दलित अत्याचार विरोधी क़ानून में संशोधन की माँग करने वालों की असली मंशा समझने की ज़रूरत है। आज महाराष्ट्र के हर जिले में दलितों के विरुद्ध भयंकर अत्याचार अंजाम दिये जा रहे हैं व ऐसे ज़्यादातर केसों में अत्याचार विरोधी क़ानून के तहत मामला दर्ज होने के बावजूद भी सज़ा की दर काफी कम (दोष सिद्धि दर 10 प्रतिशत से भी कम) रहती है। ऐसे में इस क़ानून को और ज़्यादा प्रभावी बनाने की ज़रूरत है। नारायण ने बात रखते हुए कहा कि आज मराठा युवाओं को भी इस चीज़ को समझने की ज़रूरत है कि उनके असली दुश्मन दलित नहीं बल्कि अमीर किसान व उद्योगपति हैं जो सबको लूट रहे हैं। महाराष्ट्र में ही नहीं बल्कि पूरे देश में इस समय अमीरों की एक छोटी सी आबादी बहुसंख्यक जनता को लूट रही है व उसका ध्यान बंटाने के लिए जाति, धर्म, क्षेत्र के झगडे खड़े कर रही है। आज अगर हम ये चीज़ नहीं समझेंगे तो कल बहुत देर हो जायेगी। आज ये जिस मराठा आक्रोश को दलितों के विरुद्ध खड़ा कर रहे हैं, कल को वो इसे मुसलमानों के विरुद्ध भी इस्तेमाल करेंगे, मज़दूर आन्दोलनों के विरुद्ध भी इस्तेमाल करेंगे। इसलिए हमें आज ग़रीब मेहनतकश जनता को उसकी अस्मिताओं के आधार पर नहीं बल्कि वर्गीय आधार पर एकजुट करना होगा। जाति के विरुद्ध आन्दोलन भी वर्गीय गोलबन्दी के साथ ही खड़ा किया जा सकता है।

— बिगुल संवाददाता

विकास के शोर के बीच भूख से दम तोड़ता मेहनतकश

रजनी एक चार साल की बच्ची है। इस उम्र के अन्य बच्चों की तरह उसका वज़न भी कम से कम 15 किलो होना चाहिए। जानते हैं रजनी का वज़न कितना है? 5 किलो। धँसी हुई आँखें, हड्डियों के ढाँचे पर बेजान सूखी हुई त्वचा व रूखे बेजान बालों और पतले-पतले हाथ पैरों वाली रजनी ज़ोर लगाकर खड़ा होने की कोशिश तो करती है लेकिन पैरों में जान न होने की वजह से खड़ी नहीं हो पाती है। रोने की कोशिश करती है तो रो भी नहीं पाती है। सिर्फ़ रजनी ही नहीं उसके तीन और भाई-बहन भी इसी तरह से भुखमरी और कुपोषण का शिकार हैं। उसके माता-पिता जलपाईगुड़ी के एक चाय बागान में काम करते थे। कुछ महीने पहले मालिक ने बिना किसी नोटिस और मुआवज़े के इनको बाहर का रास्ता दिखा दिया और अब ये बेरोज़गार हैं और सड़क पर हैं। कुछ दिन तक तो उधार पर राशन आता रहा और यह परिवार दो दिन छोड़कर एक दिन खाना खाता रहा लेकिन यह भी कब तक चलता? कुछ दिन बाद दुकान वाले ने भी उधार देना बन्द कर दिया। अब न रोज़गार है, न उधार और न ही राशन। बच्चे ही नहीं बल्कि उनके माता-पिता की हालत भी वैसी ही है। पूरा परिवार भुखमरी और कुपोषण का शिकार है। और यह सिर्फ़ एक रजनी और उसके परिवार की बात नहीं है। हमारे देश में हर रोज़ लगभग बीस करोड़ लोग भूखे सोते हैं। यह पूरी दुनिया में रोज़ भूखे सोने वाले लोगों का एक तिहाई है। भारत में हर रोज़ 7000 और हर साल 25 लाख से ज़्यादा लोग भूख की वजह से मर जाते हैं। इतना ही नहीं, भारत में 50 प्रतिशत से ज़्यादा बच्चे अंडरवेट यानि अपनी आयु के हिसाब से कम वज़न वाले हैं और 70 प्रतिशत से ज़्यादा औरतें और बच्चे किसी न किसी गम्भीर पोषण की कमी का शिकार हैं। हमारे देश में 30 प्रतिशत नवजात शिशु कम वज़न के साथ पैदा होते हैं, 3 साल तक के 79 प्रतिशत बच्चों और 56 प्रतिशत विवाहित महिलाओं में आयरन की कमी से होने वाली ख़ून की कमी है। बच्चों में होने वाली आधी से ज़्यादा मौतें कुपोषण या कम पोषण होने की वजह से होती हैं। क्या आप जानते हैं भुखमरी की तालिका में भारत दुनिया में कौन से स्थान पर है? 97वें स्थान पर। बहुत सारे छोटे-छोटे देशों से भी नीचे। आपको ये आँकड़े भयावह लग रहे होंगे लेकिन भारत की एक बड़ी आबादी के लिए यह रोज़मर्रे की बात है।

लेकिन ऐसा इसलिए नहीं है कि भारत में खाद्यान्न की कमी है। भारत गेहूँ की सबसे ज़्यादा पैदावार करने वाले देशों में चीन के बाद दूसरे स्थान पर आता है और यहाँ हर साल 940.3 लाख मीट्रिक टन गेहूँ पैदा होता है। चावल की पैदावार में भी भारत चीन के बाद दूसरे स्थान पर आता है और यहाँ हर साल 1550.6 लाख मीट्रिक टन चावल पैदा किया जाता है। और फिर क्या होता है? पिछले साल भारत में 210 लाख मीट्रिक टन गेहूँ गोदामों में पड़ा-पड़ा सड़ गया था। इतना गेहूँ पूरे देश का पेट भरने के लिए पर्याप्त था। संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुसार भारत में कुल पैदावार का चालीस प्रतिशत गेहूँ हर साल बर्बाद हो जाता है। लेकिन गाय की पूजा से देशभक्ति को जोड़ने वाली सरकार को देश के भूखे मरते लोगों की चिन्ता क्यों होने लगी? बहरहाल सरकार का कहना है कि यह अनाज ख़राब भण्डारण और परिवहन की वजह से ख़राब होता है। लेकिन सवाल ये है कि भण्डारण और परिवहन की ज़िम्मेवारी किसकी है? इस सम्बन्ध में 2001 में सुप्रीम कोर्ट में एक याचिका दायर की गयी थी जिसमें कहा गया था कि देश की बड़ी आबादी भूखों मरती है और अनाज गोदामों में सड़ता है। सुप्रीम कोर्ट ने संविधान के अनुच्छेद 21 का हवाला देते हुए कहा था कि "भोजन का अधिकार" असल में "जीवन के अधिकार" से ही सम्बन्धित है। सुप्रीम कोर्ट ने फ़ैसला सुनाया था कि "भारतीय खाद्य निगम" यह सुनिश्चित करे कि अनाज गोदामों में न सड़े और हर ज़रूरतमंद को भोजन उपलब्ध हो। लेकिन जैसा कि अक्सर होता है फ़ैसले के इतने सालों के बाद आज भी गोदामों में यूँ ही अनाज सड़ रहा है और लोग भूख से मर रहे हैं। पूँजीवाद का यह मुख्य लक्षण होता है। व्यापक आबादी भूखों मरती है, अनाज गोदामों में सड़ता है या सड़ा दिया जाता है, सरकारें और न्यायपालिका मगरमच्छ के आँसू बहाती हैं और सब कुछ यूँ ही चलता जाता है।

कहने को तो सरकार ने महिलाओं और बच्चों को भोजन उपलब्ध कराने के लिए स्कीमें भी चला रखी हैं। एक स्कीम है मिड डे मील योजना। इसके तहत सरकारी स्कूलों में पढने वाले बच्चों को दिन का खाना उपलब्ध करवाया जाता है। लेकिन यहाँ समस्या ये है कि अधिकतर बच्चे स्कूल ही नहीं जा पाते तो भोजन कहाँ से कर पायेंगे? दूसरा उस भोजन में भी इतनी अनियमितताएँ मिलती हैं कि इसी साल के हर महीने में देश के विभिन्न हिस्सों से मिड डे मील खाने के बाद बच्चों के बीमार होने की खबरें आती रही हैं। पिछले ही दिनों छत्तीसगढ़ के कोरबा में 60 बच्चे मिड डे मील खाने के बाद बीमार हो गये थे। ज़ाहिर है समस्या इस योजना में नहीं बल्कि कार्यान्वयन की नीयत में है। स्कूलों में आने वाले राशन को इतने ख़राब तरीके से रखा जाता है कि उसके दूषित होने की सम्भावना शत प्रतिशत होती है। कई जगहों पर इसकी ज़िम्मेदारी ऐसे एनजीओ को दी गयी है जो पैसे बनाने के लिए घटिया सामग्री का इस्तेमाल करते हैं। लेकिन किसी को कोई फर्क नहीं पड़ता और बच्चे यूँ ही बीमार पड़ते रहते हैं। इन स्कूलों में ग़रीबों के बच्चे ही जाते हैं इसलिए भी किसी के लिए यह कोई बड़ी बात नहीं बनती। उधर सरकार से लेकर सम्बन्धित अधिकारी तक अपनी पीठ थपथपाते रहते हैं कि सबको भोजन उपलब्ध करवा दिया गया है। एक अन्य स्कीम है जो सरकार ने "समन्वित बाल विकास परियोजना" के नाम से चलायी हुई है जिसके अन्तर्गत छ: वर्ष तक के उम्र के बच्चों, गर्भवती महिलाओं तथा स्तनपान कराने वाली महिलाओं को स्वास्थ्य, पोषण एवं शैक्षणिक सेवाओं का एकीकृत पैकेज प्रदान करने की योजना है। इसके अन्तर्गत इन सबके लिए एक समय के पूरक आहार का प्रबंध आँगनवाड़ी केंद्र में होता है। कहने को तो यह योजना पिछले 41 सालों से चल रही है लेकिन आज भी इस देश के 50 प्रतिशत से ज़्यादा बच्चे कुपोषित हैं और भूख से मर रहे हैं।

असल में पूँजीवाद में सरकारें दिखावे के लिए कुछ कल्याणकारी योजनाएँ चलाती रहती हैं लेकिन यह सिर्फ़ दिखावा ही होता है और जमीनी स्तर पर ये योजनाएँ बरसाती बुलबुले से ज़्यादा प्रभाव नहीं डालती। बच्चे सड़ा हुआ अनाज खाकर बीमार हो रहे हैं, जो यह भी नहीं खा पा रहे वे भूख से मर रहे हैं और सरकार अपनी पीठ थपथपा रही है। प्रभाव डालें भी तो कैसे? एक रिपोर्ट के अनुसार भारत में 45 करोड़ लोग ग़रीबी की रेखा से नीचे जी रहे हैं। लेकिन ग़रीबी की रेखा का यह मानदंड भी हास्यास्पद है। भारत सरकार के अनुसार शहर में रहने वाला कोई व्यक्ति रोज़ अगर 33 रुपये से ज़्यादा और गाँव में रहने वाला कोई व्यक्ति अगर 27 रुपये से ज़्यादा कमाता है तो वह ग़रीब नहीं है। अब कोई व्यक्ति इतनी कम आमदनी के साथ जीने योग्य भी साधन भी नहीं जुटा पायेगा, पेट भरकर खाना तो दूर की बात है। फिर ग़रीबी की रेखा से नीचे आने वाले लोग तो इतने भी नहीं कमा पाते तो वे कहाँ ज़िन्दा रहने की भी सोच सकते हैं? एक तरफ तो ऐसे लोगों की संख्या बढती जा रही है और दूसरी तरफ देश में पैदा होने वाली सम्पदा और पूँजी समाज के एक बहुत छोटे से हिस्से के कब्ज़े में आती जा रही है। भारत में दुनिया के सबसे ज़्यादा ग़रीब लोग रहते हैं और दूसरी तरफ फ़ोर्ब्स पत्रिका द्वारा जारी की गयी दुनिया के 61 देशों में अरबपतियों की संख्या की सूची में भारत का स्थान चौथा है। अमीर और ग़रीब की बढती इस खाई के बीच देश में तमाम नीतियाँ इसी धनपशु पूँजीपति वर्ग के मुनाफ़े के लिए बनायी जाती हैं। कुछ कल्याणकारी योजनाएँ सिर्फ़ इसलिए चला दी जाती हैं ताकि यह दिखाया जा सके कि सरकार को ग़रीबों की भी चिन्ता है। लेकिन अन्ततः ग़रीब के हिस्से में आती है लूट, शोषण और भुखमरी।

तो इस सब के लिए ज़िम्मेदार कौन है? सरकार की ही तर्ज़ पर कुछ लोग कहेंगे कि अनाज का भंडारण सही नहीं है, योजनाओं को ढंग से कार्यान्वित नहीं किया जाता, अधिकारी पैसे खा जाते हैं, भ्रष्टाचार है आदि आदि। लेकिन यह तो तस्वीर का एक छोटा सा हिस्सा मात्र है। समस्या का कारण सरकार की लापरवाही और भ्रष्टाचार तो है लेकिन सिर्फ़ यही एक कारण नहीं है। सरकार लापरवाह क्यों है और भ्रष्टाचार का कारण क्या है यह देखने के लिए तो हमको इस व्यवस्था की मूल प्रणाली में देखना होगा। हमारे देश की व्यवस्था यानि पूँजीवाद के अन्तर्गत हर चीज़ की तरह अनाज भी मुनाफ़े के लिए पैदा किया जाता है। और पूँजीवाद में कोई भी सरकार मुनाफ़े पर आधारित व्यवस्था को बनाये रखने व मज़बूत बनाने के अलावा कुछ और नहीं करेगी। सरकार की तमाम योजनाएँ और कार्यनीतियाँ इन्हीं अरबपतियों के मुनाफ़े को ध्यान में रख कर बनायी जाती हैं। ऐसे में चाहे कोई कल्याणकारी स्कीम आ जाये या सुप्रीम कोर्ट के हज़ारों फ़ैसले आ जायें, जब तक मुनाफ़ाख़ोर पूँजीवादी व्यवस्था रहेगी तब तक अनाज सड़ता रहेगा, लोग भूख से मरते रहेंगे और पूँजीपतियों के मुनाफ़े बढ़ते रहेंगे। रूस में जब अक्टूबर क्रान्ति हुई तो उस समय रूस सहित रूसी साम्राज्य के तमाम देश भयंकर अकाल और भुखमरी से जूझ रहे थे। लेकिन क्रान्ति के बाद जब मेहनतकश ने सत्ता अपने हाथ में ली तो अगले दस साल में सोवियत संघ से भुखमरी का नामोनिशान ख़त्म किया जा चुका था। ऐसा भारत में भी किया जा सकता है, ज़रूरत है कि पूँजीवाद को ख़त्म करके मेहनतकश का लोक स्वराज कायम किया जाये।

– नवमीत

शहीद भगतसिंह के जन्मदिवस पर मराठी में क्रान्तिकारी साहित्य के प्रकाशन की शुरुआत

शहीद भगतसिंह के जन्मदिवस 28 सितम्बर 2016 को मुम्बई (मानखुर्द) में भगतसिंह की पांच मराठी पुस्तिकाओं का लोकार्पण हुआ। इन्हीं पुस्तिकाओं के प्रकाशन के साथ मराठी में क्रांतिकारी साहित्य के लिए ऐरण प्रकाशन का आगाज़ हुआ। नौजवान भारत सभा व ऐरण प्रकाशन की तरफ से आयोजित इस कार्यक्रम में भगतसिंह की ये पांच पुस्तिकाएं प्रकाशित की गयी: **1. मी नास्तिक का आहे? 2. बांम्बचे तत्त्वज्ञान आणि न्यायालयातील निवेदन 3. जातिधर्माचे झगडे सोडा, खऱ्या लढ्याशी नाते जोडा 4. क्रांतिकारी कार्यक्रमाचा मसुदा 5. भगतसिंह म्हणाले होते।** इस कार्यक्रम में मुम्बई के अलग अलग इलाकों से अनेक लोग उपस्थित थे।

इस मौके पर बोलते हुए नौजवान भारत सभा के नारायण ने कहा कि भगतसिंह की शहादत के इतने वर्षों बाद भी उनके लेख प्रासंगिक हैं। इसका कारण ये है कि भगतसिंह केवल अंग्रेजों के विरुद्ध भारतीय जनता की लड़ाई के ही नहीं बल्कि शोषण के विरुद्ध मज़दूरों की लड़ाई के भी प्रतीक हैं। समानता पर आधारित व शोषणमुक्त समाज का सपना आंखों में लिए भगतसिंह व उनके साथियों ने अपना सब कुछ बलिदान कर दिया पर आज भी वैसा समाज नहीं बन पाया। उसी शोषणमुक्त समाज के निर्माण के लिए दुनियाभर के मज़दूरों की तरह ही भारत के मज़दूर भी लड़ रहे हैं। इस संघर्ष को परिणति तक ले जाने

के लिए भगतसिंह का लेखन आज भी मार्गदर्शक है। सड़े-गले विचारों, रूढ़ियों व बौद्धिक गुलामी की जकड़ से आज़ाद होने की प्रेरणा देने की विलक्षण क्षमता उनके लिखे शब्दों में है। उनके लेखन से प्रेरित होकर खुद को शोषण के विरुद्ध लड़ाई में झोंक देना, यही भगतसिंह को सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

ऐरण प्रकाशन की तरफ से बबन ठोके ने कहा कि प्रसार माध्यमों पर व साथ ही साहित्य पर लगातार पूँजी का व बाजार का प्रभाव बढ़ रहा है व ऐसे में एक वैकल्पिक मीडिया खड़ा करना अत्यंत जरूरी है। विभिन्न भाषाओं में प्रगतिशील साहित्य कम से कम दरों पर लोगों तक पहुँजना चाहिये। बबन ने कहा कि शहीद भगतसिंह के सम्पूर्ण उपलब्ध दस्तावेजों को भी मराठी में जल्द ही प्रकाशित करने का संकल्प ऐरण प्रकाशन ने लिया है।

लोकार्पण कार्यक्रम के बाद पूरे इलाके में शहीद भगतसिंह की तस्वीरें लिये हुए एक मार्च निकाला गया व भगतसिंह की विरासत से परिचित कराते मराठी व हिन्दी पर्चे बांटे।

— सत्यनारायण

ग़रीबों के मुँह का ग्रास छीनकर बढ़ती जीडीपी और मालिकों के मुनाफ़े!

पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादन का चरित्र तो सामाजिक हो चुका है अर्थात वस्तुओं-सेवाओं का उत्पादन अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा नहीं बल्कि बहुत सारे श्रमिकों द्वारा सामूहिक रूप से किया जाता है। लेकिन उत्पादित वस्तुओं पर स्वामित्व सामाजिक अर्थात इन उत्पादकों का सामूहिक नहीं बल्कि उत्पादन के साधनों के मालिकों या पूँजीपतियों का निजी स्वामित्व होता है। उत्पादकों को अपनी श्रमशक्ति बेचने के एवज में पूँजी मालिकों द्वारा तय मज़दूरी ही मिलती है जबकि उत्पाद के पूरे मूल्य पर मालिकों का अधिकार होता है जिससे उनका मुनाफ़ा तथा दौलत बढती जाती है। श्रमिकों की श्रम शक्ति का मूल्य भी बाज़ार के माँग-पूर्ति के नियम से तय होता है और जब मजदूरों की एक विशाल बेरोज़गार फौज श्रम के बाज़ार में बिकने के लिये उपलब्ध हो तो यह मूल्य इतना कम हो जाता है कि उनको अपना जीवन चलाने के लिये भी पर्याप्त नहीं होता क्योंकि मालिक पूँजीपति को श्रमिकों की अटूट कतार बिकने के लिये नजर आती है। इस स्थिति में मजदूरों की जिन्दगी बद से बदहाल होती जाती है और पूँजीपति का मुनाफ़ा ऊँचे से ऊँचा। वर्तमान व्यवस्था में पूँजीपतियों के मुनाफ़े-दौलत में इस भारी वृद्धि को ही अर्थव्यवस्था के विकास का पैमाना माना जाता है।

अभी भारत की अर्थव्यवस्था में तेज़ी की भी बडी चर्चा है और इसे दुनिया की सबसे तेज़ी से विकास करती अर्थव्यवस्था बताया जा रहा है। इस विकास की असली कहानी भी बहुसंख्यक श्रमिक-अर्धश्रमिक जनता की जिन्दगी पर पडे इसके असर से ही समझनी होगी। 1991 में शुरू हुए आर्थिक 'सुधारों' से देश की अर्थव्यवस्था कितनी मज़बूत हुई है उसकी असलियत जानने के लिए जीडीपी-जीएनपी की वृद्धि, एक्सपोर्ट-इम्पोर्ट के आँकड़े, मकानों-दुकानों की कीमतें, अरबपतियों की तादाद, या सेंसेक्स-निफ्टी का उतार-चढाव देखने के बजाय हम नेशनल न्यूट्रिशन मॉनिटरिंग ब्यूरो (NNMB) के सर्वे के नतीजों और अन्य स्रोतों से प्राप्त जानकारी पर नजर डालते हैं जो बताता है कि जीवन की अन्य सुविधाएँ – आवास, शिक्षा, चिकित्सा, आदि को तो छोड ही दें, इस दौर में ग़रीब लोगों को मिलने वाले भोजन तक की मात्रा भी लगातार घटी है। यह ब्यूरो 1972 में ग्रामीण जनता के पोषण पर नजर रखने के लिए स्थापित किया गया था और इसने 1975-1979, 1996-1997 तथा 2011-2012 में 3 सर्वे किये। इस सारे दौरान सरकारें लगातार तीव्र आर्थिक तरक्की की रिपोर्ट देती रही हैं इसलिए स्वाभाविक उम्मीद होनी चाहिये थी कि जनता के भोजन-पोषण की मात्रा में सुधार होगा लेकिन इसके विपरीत ज़मीनी असलियत उलटे ये पायी गयी कि जनता को मिलने वाले पोषण की मात्रा बढ़ने के बजाय लगातार घटती गयी है।

2012 के न्यूट्रीशन ब्यूरो के ग्रामीण भारत के आखिरी सर्वे के अनुसार 1979 के मुकाबले औसतन हर ग्रामीण को 550 कैलोरी ऊर्जा, 13 ग्राम प्रोटीन, 5 मिग्रा आइरन, 250 मिग्रा कैल्सियम और 500 मिग्रा विटामिन ए प्रतिदिन कम मिल रहा है। इसी तरह 3 वर्ष से कम की उम्र के बच्चों को 300 मिलीलीटर प्रतिदिन की आवश्यकता के मुकाबले औसतन 80 मिली दूध ही प्रतिदिन मिल पा रहा है। सर्वे यह भी बताता है कि जहाँ 1979 में औसतन दैनिक ज़रूरत के लायक प्रोटीन, ऊर्जा, कैल्शियम तथा आइरन उपलब्ध था, वहीं 2012 आते-आते सिर्फ़ कैल्शियम ही ज़रूरी मात्रा में मिल पा रहा है जबकि प्रोटीन दैनिक ज़रूरत का 85%, ऊर्जा 75% तथा आइरन मात्र 50% ही उपलब्ध है। सिर्फ़ विटामिन ए ही एक ऐसा पोषक तत्व है जिसकी मात्रा 1979 के 40% से 1997 में बढकर 55% हुई थी लेकिन वह भी 2012 में घटकर दैनिक ज़रूरत का 50% ही रह गयी। इसी का नतीजा है कि सर्वे के अनुसार 35% ग्रामीण स्त्री-पुरुष कुपोषित हैं और 42% बच्चे मानक स्तर से कम वज़न वाले हैं। और यह तो पूरी आबादी का औसत आँकड़ा है, जनसंख्या के ग़रीब हिस्से में तो हालात और भी बेहद ख़राब हैं। आजीविका ब्यूरो नाम के संगठन द्वारा दक्षिण राजस्थान के गाँवों में किये गये एक सर्वे के अनुसार आधी माँओं को दाल नसीब नहीं हुई थी तथा एक तिहाई को सब्ज़ी। फल, अंडे या मांस तो खैर किसी को भी मिलने का सवाल ही नहीं था। नतीजा, आधी माँएँ और उनके बच्चे कुपोषित थे।

इस हालत की वजह क्या है? इस बारे में न्यूट्रीशन ब्यूरो के ही सर्वे में पाया गया कि असल में 1979 में सिर्फ़ 30% ग्रामीण लोग भूमिहीन थे जो अब बढकर 40% हो गये हैं; मुख्यतः मज़दूरी पर निर्भर परिवार 51% हो गये हैं तथा और 27% ग़रीब किसान हैं जिनकी आमदनी बेहद कम है और उन्हें जीवन निर्वाह के लिये अपनी ज़मीन पर निर्भर रहने की गुंजाइश नहीं इसलिए बाकी समय उन्हें मज़दूरी ही करनी पड़ती है। 2011 की जनगणना के अनुसार भी भूमिहीन कृषि मजदूरों की तादाद 2001 के 10.67 करोड़ के मुकाबले बढ़कर 14.43 करोड़ हो गयी है। उपजाऊ जोत वाले मालिक किसान पहले से आधे ही रह गये हैं। अर्थात 3 चौथाई ग्रामीण जनसंख्या भी अब भोजन के लिए बाज़ार से खरीद पर ही निर्भर है। अब सरकार इस साल पहले ही संसद को बता चुकी है कि महँगाई से एडजस्ट करने पर कृषि में मज़दूरी की दर भी घटने लगी है - 2014 और 2015 में यह 1% प्रतिवर्ष कम हुई है। साथ में यह भी ध्यान दें कि बाकी चीजों के मुकाबले खाद्य पदार्थों की महँगाई अधिक तेज़ी से बढ़ी है - 6.7% के मुकाबले 10%। खाद्य पदार्थों में भी दालों, वसा तथा सब्ज़ियों के दाम ज़्यादा तेज़ी से बढे हैं। नेशनल सैंपल सर्वे के अनुसार शहरों-गाँव के सबसे ग़रीब लोगों द्वारा उपभोग की गयी वस्तुओं की महँगाई दर अमीर शहरियों की उपभोग्य वस्तुओं के मुकाबले 5% तक अधिक है। निष्कर्ष यह कि ग्रामीण भारत का बहुलांश ना तो अब पर्याप्त मात्रा में भोजन उगाने में समर्थ है और ना ही ख़रीदने में। अतः अधिकांश लोगों के लिए दाल, सब्ज़ी, फल, दूध, अंडा-मांस, आदि अब दुर्लभ पदार्थ बनते जा रहे हैं।

अगर विकसित देशों की बात को छोड़ भी दिया जाये और सिर्फ़ मीडिया द्वारा भारत की बराबरी के उभरते देश कहे जाने वाले ब्रिक्स (BRICS) देशों के साथ भी तुलना की जाये तो भारत में कुपोषण की स्थिति ब्राज़ील से 13 गुना, चीन से 9 गुना और 1994 तक भयंकर रंगभेदी शासन झेलने वाले दक्षिण अफ्रीका से भी 3 गुना बदतर है। इस पर भी हमारे शासक कुपोषण को कोई ध्यान देने लायक समस्या नहीं मानते। अभी भारत की आर्थिक राजधानी कहे जाने वाले मुम्बई से सटे पालघर में पिछले एक साल में 600 आदिवासी बच्चों की कुपोषण से मृत्यु पर जब महाराष्ट्र के आदिवासी मामलों के मंत्री से सवाल पूछा गया तो उनका सीधा जवाब था 'तो क्या हुआ'। यहाँ तक कि 'सबका हाथ सबका विकास' वाली मोदी सरकार ने तो 2015 में इस न्यूट्रीशन ब्यूरो को ही बन्द कर दिया है, ताकि ऐसी ख़तरनाक परेशान करने वाली सच्चाइयाँ ज़ाहिर ही ना हों! पर सच का मुँह क्या इतनी आसानी से बन्द हो जायेगा?

यद्यपि उपरोक्त सब तथ्य ग्रामीण क्षेत्र के हैं लेकिन हम सब यह भी जानते हैं कि शहरी मजदूरों-निम्न मध्य वर्ग की स्थिति भी इतनी ही बुरी है। अर्थात देश के 80% लोगों के लिए इन 'सुधारों' का नतीजा भूख और कुपोषण ही हुआ है। तो हम जो बढ़ते कॉरपोरेट मुनाफ़े, अरबपतियों की बढती संख्या की खबरें पढ़ते हैं उसके पीछे की कड़वी सच्चाई यही है कि ग़रीब मजदूरों, किसानों, निम्न-मध्यवर्गीय लोगों के मुँह का निवाला छीनकर ही यह मुनाफ़े, यह अरबों की दौलत इकठ्ठा हो रही है। इसीलिए इन सब सर्वे की ख़बरें या इस पर बहसें हमें कॉरपोरेट मीडिया में कहीं नजर नहीं आतीं।

आइये, अब हम शहरी ग़रीबों की स्थिति पर नजर डालते हैं। शहरों की ऊपरी चमक-दमक से उनका हाल बेहतर न समझें। दिल्ली और मुम्बई सहित शहरों की झुग्गी-झोंपड़ियों में रहने वाली एक चौथाई अर्थात 10 करोड़ अत्यन्त ग़रीब लोग भी भूख और कुपोषण का उतना ही शिकार हैं। और जैसे-जैसे हम भारत के आर्थिक महाशक्ति बनने की चर्चा सुनते हैं भूख पीड़ित लोगों की तादाद घटने के बजाय बढ़ती जाती है। यूनीसेफ के अनुसार भारत में हर साल 5 वर्ष से कम आयु के 10 लाख बच्चे कुपोषण सम्बन्धी कारणों से मृत्यु का शिकार होते हैं। सामान्य से कम वज़न वाले 5 साल तक के बच्चों की संख्या का विवरण देखें तो पता लगेगा कि विकसित देशों को तो भूल ही जाइये, ब्राजील, चीन, दक्षिण अफ्रीका जैसे तीसरी दुनिया के देश भी छोड़िये, शहरी बच्चों के कुपोषण के मामले में हम बांग्लादेश-पाकिस्तान से भी गये गुजरे हैं! भारत में यह तादाद जहाँ 34% है वहीं बांग्लादेश में 28%, पाकिस्तान में 25%, दक्षिण अफ्रीका में 12%, ब्राजील में 2% और चीन में 1% है!

भारत की राजधानी दिल्ली और आर्थिक राजधानी कहे जाने वाले मुम्बई की स्थिति को थोड़ा और विस्तार से जानते हैं क्योंकि यहाँ के बारे में ज़्यादा जानकारी उपलब्ध है। इससे हम बाकी शहरों की स्थिति का भी कुछ आकलन कर पायेंगे। इन दोनों की कुल जनसंख्या के आधे और करीब 2.40 करोड़ लोग स्लम या झोंपड़पट्टी में रहते हैं जो भारी भीड़, ग़रीबी और कुपोषण के केन्द्र हैं। इनमें लोग किस तरह रहते होंगे यह अनुमान लगाने के लिए इतना ही बताना पर्याप्त है कि मुम्बई की जनसँख्या का 60% झोंपड़पट्टी में रहता है जो मुम्बई के कुल क्षेत्रफल का सिर्फ़ 8% जगह में स्थित हैं। मुम्बई के गोवंडी/मानखुर्द या दिल्ली की ऐसी ही श्रमिक बस्तियों में जाइये तो आपको खुले गंदे नालों, कचरे के ढेरों और भिनभिनाती मच्छर-मक्खियों के बीच दड़बे की मानिंद भरे लोग रहते मिलेंगे जिन्होंने देश भर के गाँवों में अपनी जीविका की बरबादी के बाद इन झोंपड़ बस्तियों में शरण ली है। लेकिन इनमें से बहुत सारे तो इस झोंपड़ बस्ती में भी सही से ठौर नहीं पा पाते क्योंकि कभी बुलडोज़र तो कभी आग, कभी प्रॉपर्टी डीलरों के माफिया गिरोह इनके थोडे बहुत बर्तन-भांडों को भी जलाते, तोड़ते, फेंकते रहते हैं।

इन ग़रीब मज़दूर परिवारों में अक्सर माता-पिता दोनों को दिन का ज़्यादातर समय लम्बे हाड़-तोड़ श्रम में बिताना होता है, काम के लिये आने-जाने में भी काफी समय लगता है और खुद तथा अपने बच्चों के लिये भोजन पकाने का समय नहीं होता; फिर उतना कमा भी नहीं पाते कि आवश्यक पोषक तत्व युक्त भोजन सामग्री खरीद सकें। ये और इनके बच्चे पोषण के नाम पर सिर्फ़ आटा-मैदा, चीनी और चिकनाई-तेल वाला कचरा भोजन (जंक फूड) ही उपभोग करने की क्रय क्षमता रखते हैं। दाल के नाम पर कभी-कभी सस्ती मसूर और सब्ज़ी के नाम पर आलू ही मयस्सर होता है, फल-दूध तो स्वप्न बन चुके हैं। नाश्ते के नाम पर परिवार चाय के साथ फैन या रस्क से काम चला रहे हैं और बच्चों को बीच में भूख लगे तो मैदे के नूडल्स या मैदे, चीनी, तेल वाली जलेबी जैसी चीजों से काम चलाया जा रहा है। ये ग़रीब श्रमिक परिवार इस प्रकार के भोजन को जीभ के स्वाद की वजह से नहीं अपना रहे बल्कि इस लिये कि यह पोषक तो नहीं होता पर पेट की भूख को मारता है। लेकिन और भी बडी तथा असली वजह है कि यह दाल, चावल, रोटी, सब्ज़ी, सलाद वाले वास्तविक संतुलित भोजन की एक तिहाई-चौथाई कीमत का पड़ता है तथा समय की कमी से परेशान मज़दूर परिवार इसे सुविधाजनक भी पाते हैं। लेकिन इस किस्म के भोजन का नतीजा होता है नाटा कद, आड़ी-टेढ़ी हड्डियाँ, सड़े दाँत, फूले पेट, बीमारियों का मुकाबला करने में अक्षम शरीर अर्थात कुपोषण। ऐसे बच्चे डायरिया, मलेरिया, न्यूमोनिया, जैसी बीमारियों के भी आसान शिकार होते हैं। हर साल करीब 10 लाख बच्चे कुपोषण की वजह से 5 साल की उम्र के पहले ही जान गँवा देते हैं। साथ ही यह कुपोषण सिर्फ़ जिस्म को ही बरबाद नहीं करता बल्कि बच्चों के दिमाग को भी कुन्द करता है, उनके सीखने-पढ़ने की कूव्वत को भी कम करता है। दिल्ली के 20 लाख बच्चों में से आधों की जिस्मानी-दिमागी बढ़वार ही कुपोषण के मारे कुन्द हो गयी है। बाकी देश के ग़रीब मज़दूर-किसान का ही नहीं निम्न मध्य वर्गीय परिवारों का भी यही हाल होता जा रहा है क्योंकि एक ओर घटती वास्तविक आमदनी और दुसरी ओर खाद्य पदार्थों की भयंकर जमाखोरी-कालाबाजारी से आसमान छूती कीमतें भारतीय समाज के अधिकांश लोगों के जिस्मानी-दिमागी स्वास्थ्य को पतन के गर्त में धकेल रही हैं।

विश्व खाद्य व कृषि संगठन (FAO) की ग्लोबल हंगर रिपोर्ट 2015 के अनुसार भारत में कुल 19.46 करोड़ लोग कुपोषण के शिकार हैं जो पिछले 5 साल में 2.6% बढे हैं अर्थात 5 साल पहले 18.99 करोड़ ही थे। ऐसे समझ सकते हैं कि पाकिस्तान की कुल जनसँख्या से भी 1.20 करोड़ ज़्यादा लोग भारत में कुपोषित हैं। यहाँ कुपोषण का मतलब सिर्फ़ कुछ दिन या समय भोजन की कमी झेलने से नहीं है बल्कि उनसे जिन्हें लगातार एक साल और उससे ज़्यादा अपनी दैनिक शारीरिक पोषण की ज़रूरत से कम भोजन मिलता है। इस रिपोर्ट के अनुसार भारत में ग़रीबों के भोजन में मात्र किसी तरह जीवित रह सकने वाले पदार्थ ही शामिल हैं क्योंकि खाद्य पदार्थों की बढ़ती महँगाई से ग़रीब लोग पोषक भोजन खरीदने में असमर्थ हैं।

आखिर इस स्थिति की वजह क्या है? अभी 15 सितंबर को प्रकाशित कोर्न फेरी हे ग्रुप के 2008 के वित्तीय संकट से अब तक के 51 देशों के रोज़गार व वेतन के तुलनात्मक अध्ययन के अनुसार इन 8 वर्षों में भारत की जीडीपी 63.8% बढी है लेकिन औसत वेतन वृद्धि मात्र 0.2% हुई है। इसमें भी और गहराई तक जायें तो शिखर के लोग अर्थात उच्च प्रबन्धकों का वेतन 30% बढा है लेकिन सबसे नीचे वाले श्रमिकों की वास्तविक मज़दूरी 30% कम हुई है। सारे 51 देशों में उच्चतम व निम्नतम स्तर के कर्मियों में वेतन असमानता सबसे अधिक भारत में ही है क्योंकि यहाँ रोज़गार कम बढ़े हैं और श्रमिकों की सप्लाई ज़्यादा। वैसे भी अब नियमित वेतन वाले स्थायी मज़दूर

(पेज 2 पर जारी)

सजेंगे फिर नये लश्कर – मचेगा रण महाभीषण

(पेज 1 से आगे)

लुधियाना के टेक्सटाइल पट्टी के मज़दूर, दिल्ली के इस्पात मज़दूरों से लेकर तिरुपुर व यनम के मज़दूर और चेन्नई के आटोमोबाइल मजदूरों से लेकर केरल के मुन्नार के चाय बाग़ान मज़दूर तक पिछले कुछ वर्षों में सड़कों पर उतरते रहे हैं। एक ऐसे उथल-पुथल भरे समय में हम अक्टूबर क्रान्ति के शताब्दी वर्ष में प्रवेश कर रहे हैं। **ऐसे दौर में, अक्टूबर क्रान्ति को याद करने के मज़दूर वर्ग के लिए क्या मायने हैं? इसके लिए पहले संक्षेप में यह जानना ज़रूरी है कि अक्टूबर क्रान्ति में हुआ क्या था क्योंकि आज तमाम मज़दूर भी अपनी इस महान वैश्विक विरासत से वाकिफ नहीं हैं।**

महान अक्टूबर क्रान्ति में क्या हुआ था?

1917 में रूस एक ऐसे परिवर्तन से होकर गुज़रा जिसने दुनिया के इतिहास की दिशा मोड़ दी और एक नये युग की शुरुआत की। बीसवीं सदी के पहले दशक की शुरुआत से ही विश्व पूँजीवाद आर्थिक संकट से गुज़र रहा था। यूरोप के तमाम साम्राज्यवादी देश दुनिया भर में मेहनतकश अवाम और गुलाम राष्ट्रीयताओं की लूट की बँटवारे के लिए आपस में प्रतिस्पर्द्धा में लगे हुए थे। उस समय तक ब्रिटेन साम्राज्यवादी दुनिया की सबसे अहम ताकत था। फ्रांस दूसरी अहम औपनिवेशिक साम्राज्यवादी शक्ति था। लेकिन उन्नीसवीं सदी का अन्त होते-होते जर्मनी तेज़ी से एक प्रमुख आर्थिक शक्ति के रूप में उभर चुका था। दूसरी ओर संयुक्त राज्य अमेरिका भी दुनिया की सबसे बड़ी औद्योगिक शक्ति के रूप में उभर रहा था। लेकिन जर्मनी के पास अपनी पूँजी की प्रचुरता को खपाने के लिए और साथ सस्ते कच्चे माल और सस्ते श्रम के दोहन के लिए उपनिवेश नहीं थे। जर्मनी की बढ़ती आर्थिक शक्तिमत्ता ने उसे ब्रिटेन और फ्रांस के साथ सीधी प्रतिस्पर्द्धा में ला खड़ा किया था। इस बढ़ती साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा के फलस्वरूप 1914 में विश्व के पुनर्विभाजन के लिए पहले विश्व युद्ध की शुरुआत हो गयी। एक तरफ जर्मनी, ऑस्ट्रिया और हंगरी थे तो दूसरी ओर ब्रिटेन, फ्रांस,अमेरिका व रूस। रूस की स्थिति उस समय एक पिछड़े साम्राज्यवादी देश की थी। वह पूर्वी यूरोप के पिछड़े देशों के लिए एक साम्राज्यवादी देश था। लेकिन वह स्वयं ब्रिटिश, फ्रांसीसी और अमेरिकी वित्तीय पूँजी के वर्चस्व के अधीन था। रूस में अभी ज़ार का राजतन्त्र कायम था। पहले विश्वयुद्ध में उसने मित्र शक्तियों यानी ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका के पक्ष में हिस्सा लिया। रूस की पिछड़ी हुई अर्थव्यवस्था और सैन्य शक्ति युद्ध में जर्मनी की उन्नत सैन्य शक्ति का मुकाबला करने के लिए अपर्याप्त थी। जल्द ही तमाम मोर्चों पर रूस की हार होने लगी। रूस के सैनिकों को न तो पर्याप्त मात्रा में बन्दूकें हासिल थीं और न ही उनके पास पर्याप्त मात्रा में भोजन था। युद्ध के खर्च को ढो पाना रूस की अर्थव्यवस्था के लिए मुश्किल था और जल्द ही देश में खाद्यान्न की कमी का संकट भी पैदा हो गया। सैनिकों की भारी आबादी वास्तव में किसान परिवारों से आती थी। वे वास्तव में वर्दियों में किसान ही थे। रूस में किसानों की स्थिति भी भयंकर थी। भूदासत्व का कानूनी तौर पर 1861 में उन्मूलन हो गया था, लेकिन उसके अच्छे-खासे अवशेष अभी भी देश में कायम थे। किसानों के बीच भूमि का बँटवारा नहीं किया गया था और देश की अधिकांश खेती योग्य ज़मीन या तो ज़ार की थी, या फिर चर्च और बड़े ज़मींदारों की। जो भूमि ग्राम समुदाय के पास थी उसके भी चक्रीय बँटवारे का निर्णय धनी किसान व कुलक ही लेते थे और हर व्यावहारिक मसले के लिए इस ज़मीन पर भी उन्हीं का नियन्त्रण था। ज़ार की सत्ता युद्ध का बोझ किसानों पर डाल रही थी और भूस्वामियों ने किसानों पर दबाव बढ़ा दिया था। जो भी संसाधन थे वे सभी युद्ध के मोर्चों पर स्वाहा हो जा रहे थे।

मज़दूरों की स्थिति भी कुछ ऐसी ही थी। खाद्यान्न संकट के कारण शहरों में भोजन की भयंकर कमी हो गयी थी। मज़दूरों को भरपेट भोजन तक नहीं मिल पा रहा था। मज़दूरों के काम के घण्टे 12 से 14 घण्टे होना आम बात थी। मज़दूरी इतनी भी नहीं मिल पा रही थी कि मज़दूर भरपेट खाना खा पाते। कुछ मज़दूरों को थोड़ा बेहतर वेतन मिलता था, मगर भोजन की भयंकर कमी और उसकी बढ़ती कीमतों के कारण उन्हें भी पर्याप्त भोजन नहीं मिल पा रहा था। पूरे देश में करीब 85 फीसदी आबादी ग़रीब व मंझोले किसानों की थी और मज़दूरों की आबादी करीब 10 प्रतिशत। मज़दूरों को बेहतर कार्यस्थितियां, बेहतर मज़दूरी और भरपेट भोजन चाहिए था और किसानों को ज़मीन चाहिए थी। और मज़दूरों और किसानों दोनों को ही युद्ध से निजात चाहिए था। देश में 1917 की शुरुआत आते-आते आम मेहनतकश जनता के सब्र का प्याला छलक रहा था। भुखमरी, गरीबी और महँगाई की असहनीय स्थिति ने रूस के आम मेहनतकश अवाम में विद्रोह की स्थिति पैदा कर दी थी। अन्ततः, फरवरी 1917 में एक स्वतःस्फूर्त जनविद्रोह ने ज़ार की सत्ता को उखाड़ फेंका। उस समय रूस की क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी जिसका नाम रूस की सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी (बोल्शेविक) था, इस जनविद्रोह का नेतृत्व लेने में सफल नहीं रही। नतीजतन, ज़ार की सत्ता की पतन के बाद एक मिली-जुली आरज़ी (अस्थायी) सरकार बनी जिसमें कि कई पूँजीवादी व निम्न-पूँजीवादी पार्टियाँ शामिल थीं। इस आरज़ी बुर्जुआ सरकार ने जनता से वायदा किया कि वह किसानों को ज़मीन देगी और शांति देगी, मज़दूरों को बेहतर मज़दूरी, छोटा कार्यदिवस और ट्रेड यूनियन बनाने का कानूनी अधिकार देगी। लेकिन इस पूँजीवादी आरज़ी सरकार ने अपने ज़्यादातर वायदों को पूरा नहीं किया। उसने घोषणा की कि वह मित्र देशों यानी ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका से किये हुए अपने वायदों को पूरा करेगी और युद्ध में हिस्सेदारी जारी रखेगी। साथ ही उसने भूमि सुधार यानी ज़मीन के किसानों में बँटवारे के काम को भी संविधान सभा के बनने और फिर उसके द्वारा कानून पारित किये जाने तक टाल दिया। मज़दूरों और आम मेहनतकश जनता को तात्कालिक तौर पर कुछ जनवादी और नागरिक अधिकार ज़रूर हासिल हुए जिसने की रूस में वर्ग संघर्ष को आगे बढ़ाने में तात्कालिक तौर पर मदद की। इतना करना आरज़ी पूँजीवादी सरकार की मजबूरी थी। लेकिन जो सबसे अहम वायदे उसने किये थे यानी ज़मीन और शांति का वायदा, उससे वह मुकर गयी। युद्ध में रूस की हिस्सेदारी जारी रहने से देश में अव्यवस्था, आर्थिक संकट और खाद्यान्न संकट बढ़ते ही जा रहे थे। नतीजतन, देश में नयी पूँजीवादी आरज़ी सरकार के खिलाफ जनअसन्तोष भी बढ़ता जा रहा था। देश भर के औद्योगिक केन्द्रों में हड़तालों की एक लहर चल पड़ी। साथ ही, गाँवों में किसानों का सब्र भी टूट चुका था और उनके बीच भी बगावत के हालात थे। कई जगहों पर उन्होंने भूमि समितियाँ बनाकर ज़मीनें कब्ज़ा करना शुरू कर दिया। आरज़ी सरकार ने केरेंस्की नामक एक बुर्जुआ नेता की अगुवाई में इन मज़दूर हड़तालों और किसान बग़ावतों का उसी प्रकार दमन शुरू कर दिया जिस प्रकार कि ज़ार की सरकार कर रही थी। देश में एक क्रान्तिकारी स्थिति निर्मित हो रही थी और आरज़ी सरकार सुलगते हुए जनविद्रोह को कुचलकर इस क्रान्तिकारी सम्भावना को कुचलने का प्रयास कर रही थी। ऐसे में, बोल्शेविक पार्टी के नेता लेनिन ने अप्रैल में 'अप्रैल थीसीज़' पेश की। इसमें लेनिन ने बोल्शेविक पार्टी का आम बग़ावत कर सत्ता अपने हाथों में लेने का आह्वान किया। लेनिन ने बताया कि पूँजीवादी आरज़ी सरकार बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति को पूरा नहीं करेगी, यानी कि वह ज़मीन का बँटवारा नहीं करेगी और न ही युद्ध से निजात दिलायेगी।। वह मज़दूरों की भी सभी जनवादी माँगों को पूरा नहीं करने वाली। वह जनविद्रोह की आशंका को देखते हुए साम्राज्यवाद, पूँजीपति वर्ग और साथ ही देशी ज़मीन्दार वर्ग से समझौते कर रही है। ऐसे में, अब यह ख़तरा पैदा हो गया है कि यह सरकार प्रतिक्रियावादियों की गोद में बैठकर जनवादी क्रान्ति का भी गला घोंट देगी। इन हालात में मज़दूर वर्ग को अपनी हिरावल पार्टी यानी बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में सत्ता पर कब्ज़ा करना चाहिए और समाजवादी क्रान्ति को अंजाम देना चाहिए। अगर मज़दूर वर्ग ने समाजवादी क्रान्ति के कार्यभार को अभी तत्काल पूरा नहीं किया तो न सिर्फ़ जनवादी क्रान्ति पूरी नहीं हो सकेगी, बल्कि उसकी हत्या भी हो जायेगी। लेनिन के प्रस्ताव को पहले बोल्शेविक पार्टी के ही नेतृत्वकारी निकाय ने स्वीकार नहीं किया। लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता गया, बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व की बहुसंख्या लेनिन के प्रस्ताव को मानती गयी। अन्ततः बोल्शेविक पार्टी की केन्द्रीय कमेटी ने आम बग़ावत और समाजवादी क्रान्ति के लेनिन के प्रस्ताव को स्वीकार किया।

बोल्शेविक पार्टी कई वर्षों के वर्ग संघर्षों में तपी-तपायी पार्टी थी। इसने ज़ार की तानाशाही के दौर में मज़दूरों के कई संघर्षों का नेतृत्व किया था और उनके बीच लगातार मौजूद रही थी। बोल्शेविक पार्टी ने मज़दूरों के बीच से सर्वाधिक उन्नत चेतना वाले, कर्मठ और बहादुर कार्यकर्ताओं को भर्ती किया था और एक लौह अनुशासन वाली और गोपनीय ढाँचे वाली मज़बूत पार्टी का निर्माण किया था। केवल ऐसी पार्टी ही ज़ारशाही और फिर पूँजीवादी सरकार द्वारा किये जाने वाले दमन का मुकाबला कर सकती थी और कुशलतापूर्वक मज़दूर वर्ग और आम ग़रीब किसान आबादी को नेतृत्व दे सकती थी। बोल्शेविक पार्टी ने अपने प्रचार के दायरे में सैनिकों को भी लाया था, जो कि किसानों के ही बेटे थे। सैनिकों की भारी तादाद ज़मीन और शान्ति की माँग से पूर्णतः सहमत थी। केवल बोल्शेविक पार्टी ही एकमात्र पार्टी थी जो कि ज़मीन के बँटवारे और युद्ध से वापसी के कदम को तत्काल लागू करने की बात कर रही थी। फरवरी 1917 के बाद से ही आम मेहनतकश जनता में भी यह बात साफ होती जा रही थी कि यदि भूमि सुधार और शान्ति चाहिए, तो पूँजीवादी आरज़ी सरकार को उखाड़ फेंकना ही एकमात्र रास्ता है। और इस रास्ते पर जनता को नेतृत्व देने को तैयार केवल एक ही पार्टी मौजूद थी—बोल्शेविक पार्टी। जल्द ही मज़दूर आबादी की भारी बहुसंख्या बोल्शेविक पार्टी के पक्ष में खड़ी हो गयी। सैनिकों की सोवियतों में भी बोल्शेविक पार्टी नियन्त्रण में आ गयी। मज़दूरों और सैनिकों की सोवियतों में बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व के काबिज़ होने के साथ बोल्शेविक पार्टी आम बग़ावत को अंजाम देने की स्थिति में पहुँच गयी थी।

किसानों के बीच पहले समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी नामक एक टटपुंजिया पार्टी का नेतृत्व प्रमुख था। बोल्शेविक पार्टी का उनके बीच आधार काफी कम था। मगर भूमि सुधार के मसले पर समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी भी संविधान सभा द्वारा कानून बनाये जाने की बात का समर्थन कर रही थी और भूमि सुधार को टाले जा रही थी। लिहाज़ा, किसानों की बड़ी आबादी भी जल्द ही बोल्शेविक पार्टी के पक्ष में आने लगी क्योंकि केवल बोल्शेविक पार्टी ही तत्काल भूमि सुधार की बात कर रही थी। अब बोल्शेविक पार्टी रूस की बहुसंख्यक आम मेहनतकश आबादी, यानी कि मज़दूर वर्ग व आम किसान वर्ग, के समर्थन को प्राप्त कर चुकी थी। यानी अब बोल्शेविक पार्टी के पास वह क्रान्तिकारी अनुशासित व गुप्त ढाँचा भी था जो क्रान्ति के नेतृत्व संचालन के लिए ज़रूरी था और साथ ही उसके पास व्यापक जनसमुदायों का समर्थन भी था। उसने नारा दिया 'ज़मीन, शान्ति, रोटी'। यही वे चीज़ें थीं जो कि रूस की युद्ध, ग़रीबी, भुखमरी, बेरोज़गारी और महँगाई से त्रस्त और थकी हुई जनता को चाहिए थीं। बोल्शेविक पार्टी ने एक **क्रान्तिकारी सैन्य कमेटी** स्थापित की। इसका संचालन आम बग़ावत के पहले लेनिन ने स्वयं अपने हाथ में लिया। देश भर में मज़दूर व सैनिक सड़कों पर थे और गाँवों में भी किसानों का विद्रोह उबल रहा था। 24 अक्टूबर की शाम से ही बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में क्रान्तिकारी सैनिकों व मज़दूरों ने पूँजीवादी सत्ता के सभी अंगों पर कब्ज़ा करना शुरू कर दिया। सभी पोस्टल व टेलीग्राफ दफ़्तरों, सैन्य मुख्यालय, पुलिस मुख्यालय, बैंक, पोर्ट, रेलवे स्टेशनों पर बोल्शेविकों ने अपना नियन्त्रण कायम कर लिया गया। पूँजीवादी सत्ता जिन अंगों से काम करती है, उन्हें अब लकवा मार चुका था और समूची पूँजीवादी राज्यसत्ता पूर्णतः असहाय थी। इसके बाद, 25 अक्टूबर को रूस में राज्यसत्ता के प्रतीक शीत प्रासाद में बैठे आरज़ी सरकार के मन्त्रियों को आत्मसमर्पण करने का अल्टीमेटम दिया गया। अल्टीमेटम पूरा होने से पहले आत्मसमर्पण न होने पर बोल्शेविक सैनिकों ने धावा बोला और बहुत थोड़े प्रतिरोध के बाद ही विजय हासिल कर ली गयी। और इस तरह से रूस के पुराने कैलेण्डर के अनुसार 25 अक्टूबर (7 नवम्बर) को बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व दुनिया की पहली सफल समाजवादी मज़दूर क्रान्ति हुई। समस्त शक्ति मज़दूरों और सैनिकों की सोवियतों को सौंप दी गयी। क्रान्ति के तत्काल बाद भूमि सम्बन्धी आज्ञप्ति पारित हुई और भूमि सुधारों की शुरुआत कर दी गयी। दूसरी आज्ञप्ति युद्ध से वापसी की आज्ञप्ति थी। समाजवादी क्रान्ति ने वे दोनों प्रमुख माँगें तत्काल पूरी कर दीं जिन्हें पूँजीवादी आरज़ी सरकार आठ माह में पूरा नहीं कर सकी थी। क्रान्ति के बाद रूस ने साम्राज्यवादी युद्ध से अपने हाथ खींच लिए और 1918 का मध्य आते-आते रूस इस विनाशकारी युद्ध से पूरी तरह बाहर आ चुका था।

हालाँकि, अब रूस की मज़दूर सत्ता को प्रतिक्रियावादी कुलकों व ज़मीन्दारों की बग़ावत और साम्राज्यवादी हस्तक्षेप का मुकाबला कर क्रान्ति को बचाने के लिए एक तीन वर्षों के गृहयुद्ध में उतरना पड़ा, लेकिन यह कोई साम्राज्यवादी युद्ध नहीं था जो कि मुनाफ़े की लूट में हिस्सेदारी के लिए लड़ा गया हो। इस

(पेज 9 पर जारी)

सजेंगे फिर नये लश्कर – मचेगा रण महाभीषण

(पेज 8 से आगे)

गृहयुद्ध में मज़दूरों व सैनिकों ने किसानों के समर्थन के बल पर तीन वर्षों में ज़मीन्दारों की बग़ावत को परास्त किया और साथ ही चौदह साम्राज्यवादी देशों की घेराबन्दी को भी हरा दिया। 1921 आते-आते क्रान्तिकारी समाजवादी रूस गृहयुद्ध में विजयी हो चुका था और वहाँ मज़दूर सत्ता सुदृढ़ीकृत हो चुकी थी। इसके बाद अगले करीब साढ़े तीन दशकों में रूस की मेहनतकश जनता ने रूस में समाजवादी व्यवस्था का निर्माण किया। सारे कल-कारख़ानों, खानों-खदानों का राष्ट्रीकरण कर दिया गया। सारे बैंकों का राष्ट्रीकरण कर दिया गया। राज्यसत्ता पर अपनी क्रान्तिकारी पार्टी बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में अब मज़दूर वर्ग काबिज़ था इसलिए अब इन सारे संसाधानों का स्वामी साझा तौर पर देश का मज़दूर वर्ग और ग़रीब किसान जनता थी। 1917 में जो बुर्जुआ भूमि सुधार लागू किये गये उससे अलग-अलग किसान निजी तौर पर ज़मीन के मालिक बने। लेकिन 1931 से 1936 के बीच सोवियत संघ में ज़मीन में भी निजी मालिकाना समाप्त कर दिया गया और साझी खेती की व्यवस्था स्थापित की गयी। 1930 के दशक में ही सोवियत रूस का अभूतपूर्व गति से उद्योगीकरण हुआ जिससे कि वह कुछ ही समय में दुनिया की दूसरी सबसे बड़ी औद्योगिक शक्ति बन गया। इस पैमाने पर उद्योग खड़े करने में दुनिया की सबसे बड़ी औद्योगिक शक्ति अमेरिका को करीब डेढ़ सौ साल लगे थे। लेकिन रूस ने यह कार्य मज़दूर शक्ति के बूते पर डेढ़ दशक में ही कर दिखाया। पूरे देश में साक्षरता का स्तर 100 प्रतिशत के करीब पहुँचने लगा। मज़दूर वर्ग के जीवन स्तर में ज़बर्दस्त सुधार हुआ। भुखमरी और बेरोज़गारी पूरी तरह समाप्त कर दिये गये। रूस औरतों को वोट देने का अधिकार देने वाला पहला बड़ा देश बना (रूस से पहले न्यूज़ीलैण्ड में महिलाओं को वोट देने का अधिकार मिला था।। सार्विक मताधिकार सच्चे तौर पर पहली बार बिना लिंग या सम्पत्ति की शर्त के रूस में ही लागू हुआ। सोवियत संघ ने सभी दमित राष्ट्रीयताओं व जातीय समूहों को पहली बार साम्राज्यवादी दमन से मुक्त किया और उन्हें आत्मनिर्णय का अधिकार दिया। ये सभी दमित राष्ट्रीयताएँ समाजवादी प्रयोग में बराबरी की हिस्सेदार बनीं और हीनता के ध्ब्बे को हमेशा के लिए अपने माथे से मिटा दिया। सोवियत संघ के समाज से वेश्यावृत्ति पूरी तरह समाप्त हो गयी। हर आर्थिक मामले में रूस पूरी तरह अपने पैरों पर खड़ा हो गया। और यह सारा चमत्कार रूस के मज़दूर वर्ग ने हिटलर की नात्सी सेना को हराते हुए, द्वितीय विश्व युद्ध में दो करोड़ लोगों की कुर्बानी देते हुए और पूरे साम्राज्यवादी-पूँजीवादी विश्व की साज़िशों और तोड़-फोड़ के प्रयासों के बावजूद किया। 1953 में स्तालिन की मृत्यु के बाद बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व पर संशोधनवादियों का कब्ज़ा हो गया। इसका कारण रूस में समाजवादी प्रयोगों के दौरान हुई कुछ भूलें और ग़लतियाँ थीं, जिन पर इस शताब्दी वर्ष के दौरान हम 'मज़दूर बिगुल' में विस्तार में लिखेंगे। लेकिन यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी कि रूस के समाजवादी प्रयोगों को अमली जामा पहनाने में वहाँ की मज़दूर सत्ता और मज़दूर वर्ग की पार्टी से ग़लतियाँ हुईं यह एक नये किस्म का और अभूतपूर्व प्रयोग था। यह एक नये किस्म की राज्यसत्ता थी। पहली बार शोषक अल्पसंख्या पर शोषित बहुसंख्या की तानाशाही और सर्वहारा जनवाद कायम किया गया था। हर नये प्रयोग के समान इसमें भी ग़लतियाँ होना लाज़िमी था। यह पहली मज़दूर क्रान्ति थी। इसके द्वारा खड़े किये गये समाजवादी प्रयोग के करीब चार दशक बाद असफल हो जाने पर कोई भी ऐतिहासिक नज़रिया रखने वाला ताज्जुब नहीं करेगा। ताज्जुब इस बात पर ज़रूर होता है कि चार दशकों के प्रयोग में ही समाजवादी सोवियत संघ ने वह सबकुछ कर दिखाया जो पूँजीवाद अपने तीन सौ के वर्षों के इतिहास में नहीं कर पाया, हालाँकि 'समानता, स्वतन्त्रता और भ्रातृत्व' का नारा उसी ने दिया था। **चार दशकों के भीतर ही सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोग ने आने वाली बेहतर दुनिया की एक झलक दिखला दी। उसने दिखला दिया कि पूँजी का शासन अजर-अमर नहीं है। पूँजीवादी मानवता के लिए सबसे बेहतर व्यवस्था नहीं है। पूँजीवाद 'इतिहास का अन्त' नहीं है। अक्टूबर क्रान्ति ने दिखला दिया कि इससे बेहतर दुनिया सम्भव है और वह बेहतर दुनिया सर्वहारा वर्ग ही बना सकता है।**

आज तमाम मज़दूर इस महान प्रयोग के बारे में जानते ही नहीं हैं। कारण यह है कि पूँजीवादी अखबार, समाचार चैनल, फिल्में और समूचा शिक्षा तन्त्र कभी भी हमें इसके बारे में नहीं बताता। हमें केवल इसकी 'असफलता' के बारे में बताया जाता है। हमें इसके बारे में दुष्प्रचार सुनाया जाता है। **दूसरे शब्दों में, अक्टूबर क्रान्ति को पूँजीवादी शासक वर्ग ने जानबूझकर विस्मृति के अन्धेरे में धकेलने की लगातार कोशिश की है ताकि आज का मज़दूर वर्ग अपने पुरखों के इस महान प्रयोग से सीख और प्रेरणा न ले सके। वे हमेशा हीनताबोध और आत्मविश्वास के अभाव में जियें। अपनी गौरवशाली और महान विरासत से वंचित मज़दूर वर्ग भविष्य के संघर्षों के लिए भी आत्मविश्वास और आत्मिक बल नहीं जुटा सकता है। यही कारण है कि अक्टूबर क्रान्ति की स्मृति से शासक वर्ग घबराता और लगातार उस पर राख और धूल की परतें चढ़ाने का प्रयास करता रहता है।** ऐसे में, हमें इस महान मज़दूर क्रान्ति के ऐतिहासिक और अन्तरराष्ट्रीय महत्व को समझने की आज शिद्दत से ज़रूरत है, ताकि उससे हम भावी संघर्षों के लिए प्रेरणा और शक्ति ले सकें।

अक्टूबर क्रान्ति का महान ऐतिहासिक, युगान्तरकारी और अन्तरराष्ट्रीय महत्व

महान अक्टूबर क्रान्ति का ऐतिहासिक महत्व अभूतपूर्व और अद्वितीय है। मानव इतिहास में पहले भी क्रान्तियाँ और जनविद्रोह हुए हैं। आज से करीब 2090 साल पहले रोम में गुलामों ने बग़ावत की। गुलामों की बग़ावत के कारण दास प्रथा कमज़ोर हुई और फिर टूटी। दास स्वामियों का शासन ख़त्म हुआ तो ज़मीन्दारों व सामन्तों का शासन आया। यह पहले की दास व्यवस्था से बेहतर व्यवस्था थी। पहले दासों को 'बोलने वाला औज़ार' कहा जाता था; दास-स्वामी उन्हें अपने मनोरंजन के लिए आपस में तब तक लड़वाते थे जब तक कि वे मर नहीं जाते थे; उनसे तब तक काम करवाया जाता था जब तक कि वे गिरकर बेहोश नहीं हो जाते थे; दासों को मनुष्य ही नहीं माना जाता था। लेकिन सामन्ती व्यवस्था के तहत भूदास की स्थिति इससे बेहतर थी। इस रूप में सामन्ती व्यवस्था मानव इतिहास में एक अगला कदम थी। लेकिन यह भी भूदासों और किसानों के अमानवीय शोषण पर आधारित व्यवस्था थी। भूदासों की अपनी कोई राजनीतिक स्वतन्त्रता नहीं थी। वे ज़मीन के साथ बँधे हुए थे। उन्हें सामन्तों की ज़मीन पर कमर-तोड़ काम करना पड़ता था और बदले में उन्हें जीने भर की खुराक मिलती थी। किसानों को भी लगान के रूप में सामन्तों की ज़मीन पर बेगार करना पड़ता था या फिर फसल या नकदी के रूप में भारी लगान चुकाना पड़ता था। आगे चलकर दुनिया भर में सामन्ती व्यवस्था के विरुद्ध किसानों ने बग़ावतें कीं। इन बग़ावतों से सामन्ती व्यवस्था में दरारें पड़ीं। आगे चलकर उदीयमान क्रान्तिकारी बुर्जुआ वर्ग ने किसानों और दस्तकारों व कारीगरों को साथ लेकर सामन्तों के विरुद्ध जनवादी क्रान्तियाँ कीं क्योंकि सामन्ती व्यवस्था के तहत उसका आर्थिक विकास और राजनीतिक सत्ता भी सम्भव नहीं थी।

इन जनवादी क्रान्तियों के फलस्वरूप पूँजीपति वर्ग सत्ता में आया और उसने पूँजीवादी लोकतन्त्र (जनवाद) की स्थापना की। इस व्यवस्था में पूँजीपति वर्ग शासित व शोषित मज़दूर व आम मेहनतकश वर्ग से शासन करने की 'सहमति' लेता है। यह 'सहमति' चुनावों के ज़रिये ली जाती है। इससे व्यापक मेहनतकश अवाम में यह भ्रम पैदा होता कि पूँजीवादी सरकार को उसने ही चुना है। लेकिन वास्तव में यह 'सहमति' पूँजीपति वर्ग अपने मीडिया, शिक्षा तन्त्र व अन्य राजकीय उपकरणों द्वारा राय बनाकर निर्मित करता है। ठीक उसी प्रकार जैसे पिछले लोकसभा चुनावों में प्रचार पर दस हज़ार करोड़ रुपये ख़र्च करके टाटा, अम्बानी व अडानी सरीखे पूँजीपतियों ने नरेन्द्र मोदी को प्रधानमन्त्री बनाने के लिए पूरे समाज में राय का निर्माण किया था। बहरहाल, इस प्रकार पूँजीवादी जनवाद के रूप में पहली बार एक ऐसी शोषक सत्ता आयी जो कि कम-से-कम ऊपरी तौर पर 'सहमति' लेकर शोषितों के ऊपर शासन करती है और इसमें शासक वर्ग के शासन को सही ठहराने का कार्य प्रत्यक्ष रूप से धर्म के द्वारा या किसी दिव्यता के सिद्धान्त द्वारा नहीं होता। इस रूप में पूँजीवाद अपने पूर्ववर्ती वर्ग समाजों यानी दास व्यवस्था और सामन्ती व्यवस्था से भिन्न है। **लेकिन एक मायने में वह उनके समान भी है।** पूँजीवाद में भी शोषित बहुसंख्या के ऊपर एक शोषक अल्पसंख्यक वर्ग की तानाशाही होती है। पूँजीवादी जनवाद का यही अर्थ होता है—- बहुसंख्यक मज़दूर वर्ग व आम मेहनतकश आबादी पर पूँजीपतियों की तानाशाही। इस तानाशाही को पूँजीपतियों की कौन सी पार्टी संचालित करेगी, बस इसी का फैसला पूँजीवादी चुनावों में होता है। नागनाथ चले जाते हैं, साँपनाथ आ जाते हैं। **संक्षेप में यह कि अक्टूबर क्रान्ति के पहले तक सभी क्रान्तियों या विद्रोहों के बाद जो सत्ता अस्तित्व में आयी वह किसी न किसी शोषक अल्पसंख्या के शोषित बहुसंख्या पर शासन का प्रतिनिधित्व करती थी।** दास व्यवस्था बहुसंख्यक दास आबादी व आम मेहनतकश आबादी पर अल्पसंख्यक दास स्वामियों के शासन का, सामन्ती व्यवस्था बहुसंख्यक भूदास, किसान व दस्तकार आबादी पर अल्पसंख्यक सामन्ती राजे-रजवाड़ों के शासक का और पूँजीवादी व्यवस्था बहुसंख्यक मज़दूर वर्ग व आम मेहनतकश जनता पर अल्पसंख्यक पूँजीपति वर्ग के शासन का प्रतिनिधित्व करती है। अक्टूबर क्रान्ति ने पहली बार एक ऐसी सत्ता की स्थापना की जिसमें कि शोषक अल्पसंख्यकों के ऊपर शोषित बहुसंख्यकों की सत्ता कायम की गयी। **इस रूप में अक्टूबर क्रान्ति ने मानव इतिहास में एक नये युग की शुरुआत की। यह नया युग है समाजवादी संक्रमण का दीर्घकालिक ऐतिहासिक युग।** यह लाज़िमी था कि इस लम्बे दौर में दुनिया में अलग-अलग देशों में मज़दूर वर्ग समाजवाद के कई असफल प्रयोग करे। बीसवीं सदी में मज़दूर वर्ग ने अलग-अलग देशों में समाजवाद के कई प्रयोग किये भी जो महान उपलब्धियाँ हासिल करने के बाद असफल हो गये। रूस में, चीन में, पूर्वी यूरोप में, वियतनाम में। लेकिन इन प्रयोगों में रूसी अक्टूबर क्रान्ति का विशिष्ट स्थान है क्योंकि उसने ही इस सिलसिले की शुरुआत की और दुनिया की पहली समाजवादी मज़दूर सत्ता की स्थापना की।

अक्टूबर क्रान्ति ने बुर्जुआ क्रान्ति के भी उन कार्यभारों को सर्वाधिक क्रान्तिकारी रूप में और पूर्णता के साथ पूरा किया जिन्हें स्वयं बुर्जुआ वर्ग ने कभी पूरा नहीं किया। सबसे आमूलगामी बुर्जुआ क्रान्तियों ने भी भूमि सुधार और जनवादी अधिकार देने के वायदे को उस ईमानदारी और आमूलगामिता के साथ पूरा नहीं किया जिसके साथ अक्टूबर क्रान्ति ने किया। अक्टूबर क्रान्ति ने हफ्ते भर में ही वह कर दिखाया जो कि बुर्जुआ वर्ग ने अपने तमाम वायदों के बावजूद दो सौ साल में नहीं किया था। लेनिन ने इसीलिए अक्टूबर क्रान्ति की पाँचवी वर्षगाँठ पर दिये एक भाषण में कहा था कि रूस की विशिष्ट परिस्थितियों में समाजवादी क्रान्ति ने बुर्जुआ वर्ग द्वारा ही जनवादी क्रान्ति की हत्या को रोका। समाजवादी क्रान्ति ने मज़दूर वर्ग के हाथों में सत्ता सौंपने और समाजवादी निर्माण की दिशा में आगे बढ़ने से पहले छूटे-फटके बुर्जुआ जनवादी कार्यभारों को भी पूरा किया। रूस में एक विशिष्ट परिस्थिति में सर्वहारा वर्ग को इतिहास ने मजबूर कर दिया था कि वह सत्ता तत्काल अपने हाथों में ले। जैसा कि लेनिन ने स्वयं कहा था कि अक्टूबर क्रान्ति का समय हमने अपनी इच्छा से नहीं तय किया था। **द्वितीय विश्वयुद्ध, परिणामतः पैदा हुए आर्थिक संकट, खाद्यान्न संकट, देश भर में मज़दूर हड़तालों और कारख़ाना कब्ज़ा की लहर, सोवियतों के स्वतःस्पफूर्त रूप से जाग उठने और भूमि कमेटियों द्वारा ज़मीन कब्ज़ा करने के आन्दोलन के कारण पैदा हुई विशिष्ट परिस्थितियों ने सर्वहारा वर्ग और उसकी हिरावल पार्टी के समक्ष ''समय से पहले ही'' ऐसी स्थिति पैदा कर दी जिसमें उसके सामने दो ही विकल्प मौजूद थेः या तो सत्ता पर कब्ज़ा करके समाजवादी क्रान्ति की जाये और बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के उन अधूरे वायदों को पूरा किया जाये जिन्हें पूरा करने से स्वयं बुर्जुआ वर्ग मुकर गया था या फिर सर्वहारा वर्ग और उसकी हिरावल बोल्शेविक पार्टी बुर्जुआ वर्ग, प्रतिक्रियावादी कुलक व भूस्वामी वर्ग तथा राजतन्त्रशाही के बचे हुए प्रतिक्रियावादी तत्वों के गठबन्धन को यह इजाज़त दे कि वह जनवादी क्रान्ति का गला घोंटने के साथ ही मज़दूर वर्ग को 'इतिहास के रंगमंच से कई दशकों के लिए उठाकर बाहर फेंक दे।'** लेनिन का यह मूल्यांकन बिल्कुल दुरुस्त निकला। यदि उस समय मज़दूर वर्ग ने सत्ता अपने हाथों में न ली होती तो साम्राज्यवाद, रूसी पूँजीपति वर्ग और भूस्वामी वर्ग ने मिलकर रूसी जनवादी क्रान्ति का भी गला घोंट दिया होता। इस प्रकार रूस की विशिष्ट परिस्थिति में मज़दूर वर्ग द्वारा की गयी समाजवादी क्रान्ति ने जनवादी क्रान्ति की हत्या को भी रोका और

(पेज 10 पर जारी)

सजेंगे फिर नये लश्कर – मचेगा रण महाभीषण

(पेज 9 से आगे)

जनवादी क्रान्ति के कई कार्यभार भी उसे ही पूरे करने पड़े। निश्चित तौर पर, इस विशिष्ट परिस्थिति ने रूसी समाजवादी क्रान्ति और रूसी मज़दूर वर्ग के समक्ष समाजवाद के निर्माण-सम्बन्धी कई अहम चुनौतियों और जटिलाओं को पेश किया, जिसका सामना रूसी बोल्शेविक पार्टी को लम्बे समय तक करना पड़ा और जिनके कारण कई दिक्कतों और विकृतियों का सामना भी रूसी समाजवादी प्रयोग को करना पड़ा। इन सभी परिस्थितियों के मद्देनज़र रूसी समाजवादी क्रान्ति द्वारा जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को पूरा किया जाना और फिर समाजवादी निर्माण की दिशा में आगे बढ़ना एक अभूतपूर्व उपलब्धि था।

दमित राष्ट्रीयताओं का एक पूरा सागर रूसी साम्राज्य की परिधि पर लहरा रहा था। ज़ार के शासन ने इन राष्ट्रीयताओं को दशकों से बर्बर दमन और उत्पीड़न किया था। साथ ही इन उत्पीड़ित राष्ट्रीयताओं के भीतर मौजूद सामन्त व ज़मीन्दार वर्ग ने भी इस उत्पीड़न को बढ़ाने का ही काम किया था। बुर्जुआ वर्ग जब आरज़ी सरकार को बनाकर सत्ता में आया तो उसने दुनिया के अन्य देशों के बुर्जुआ वर्ग के समान ही दमित राष्ट्रीयताओं को आत्मनिर्णय के अधिकार का वायदा किया लेकिन उसे कभी पूरा नहीं किया। **रूस में मज़दूर वर्ग ने जैसे ही अपनी समाजवादी सत्ता की स्थापना की उसने तुरन्त ही दमित राष्ट्रीयताओं को आत्मनिर्णय का अधिकार दिया।** ऐसे में, कई राष्ट्रीयताएँ और देश पहले रूसी सोवियत समाजवादी गणराज्यों के संघ से कुछ समय के लिए बाहर हो गये। इसमें भी वहाँ के कट्टरवादी बुर्जुआ राष्ट्रवाद की प्रमुख भूमिका थी। लेकिन जल्द ही इन दमित राष्ट्रीयताओं के मज़दूर वर्ग ने इन देशों के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन को अपने हाथों में लिया और उसे रूसी समाजवादी निर्माण के साथ जोड़ दिया। इन देशों के किसानों व आम मेहनतकश अवाम ने भी देखा कि नयी रूसी समाजवादी सत्ता का उनपर ज़बरन अपने शासन को कायम रखने का कोई इरादा नहीं है और आत्मनिर्णय की उनकी नीति ईमानदार और पारदर्शी है। **नतीजतन, 1923 आते-आते सभी दमित राष्ट्रीयताओं में कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में सोवियत समाजवादी गणराज्य स्थापित हो चुके थे और वे रूसी समाजवादी सोवियत गणराज्यों के संघ का अंग बन गये।** नतीजतन, सोवियत संघ अस्तित्व में आया और उसमें पूर्व ज़ारकालीन साम्राज्य में ज़बरन शामिल किये गये सभी देश अपनी इच्छा से बराबरी के दर्ज़े के साथ शामिल हुए। यह दिखलाता है कि मज़दूर वर्ग कभी भी किन्हीं दमित राष्ट्रीयताओं के दमन और उत्पीड़न का समर्थन नहीं करता। वह स्वयं अपनी आज़ादी के लिए लड़ रहा है। ऐसे में, वह किसी और को ज़बरन अपनी अधीन रखकर कैसे चल सकता है? रूस के मज़दूर वर्ग ने बुर्जुआ अन्धराष्ट्रवाद का खण्डन करते हुए सच्चे अन्तरराष्ट्रीयतावाद का प्रदर्शन किया और दमित राष्ट्रीयताओं के दमन और औपनिवेशीकरण का ख़ात्मा कर एक समाजवादी सोवियत गणराज्य की स्थापना की।

महान अक्टूबर क्रान्ति ने यह दिखलाया कि बिना समाजवादी क्रान्ति के तमाम देशों को साम्राज्यवादी युद्ध की विभीषिका और विनाश से मुक्ति नहीं मिल सकती है। जब तक साम्राज्यवादी युद्ध का शिकार हो रहे तमाम देशों में मज़दूर वर्ग सत्ता में नहीं आता, तब तक वहाँ की बेगुनाह जनता साम्राज्यवादियों के मुनाफ़े की हवस में तबाहो-बर्बाद होती रहेगी। आज मध्य-पूर्व के तमाम देशों के साथ यही हो रहा है। उस समय रूस के साथ एक दूसरे रूप में यह हो रहा था। मध्य-पूर्व में आज जो देश पश्चिमी साम्राज्यवाद का शिकार बन रहे हैं, वे स्वयं पिछली कतारों के साम्राज्यवादी देश नहीं हैं। रूस स्वयं पिछली कतारों का साम्राज्यवादी देश था। लेकिन प्रथम विश्व युद्ध में उसकी स्थिति ब्रिटेन और प्रफांस से काफी अलग थी और उनके मुनाफ़ों के लिए रूसी सैनिकों और आम जनता को बलि चढ़ाया जा रहा था। इस साम्राज्यवादी युद्ध का सारा लाभ बड़ी साम्राज्यवादी ताक़तों को था और उसकी कीमत रूसी मेहनतकश जनता से वसूली जा रही थी। समाजवादी क्रान्ति ने रूस को इसी भयंकर स्थिति से निकाला और रूस की जनता को शान्ति का अवसर दिया। रूस साम्राज्यवादी विश्व से अलग हो गया और उसने 1918 आते-आते साम्राज्यवादी युद्ध के हरेक मोर्चे से अपने सैनिक वापस बुला लिये। इसका अर्थ यह नहीं था कि रूस का मज़दूर वर्ग शान्तिवादी था। उसने उसके बाद तीन वर्षों तक काफ़ी खून देकर ज़मीन्दारों की बग़ावत को कुचला और साथ ही चैदह साम्राज्यवादी देशों की घेराबन्दी को भी परास्त किया। लेकिन यह युद्ध एक क्रान्तिकारी युद्ध था जिसमें मज़दूर वर्ग और ग़रीब किसान वर्ग के बहादुर योद्धाओं ने स्वेच्छा से कुर्बानी दी, ताकि वे अपनी समाजवादी सत्ता की हिफ़ाज़त कर सकें, न कि साम्राज्यवादी-पूँजीवादी धनपशुओं के मुनाफ़े के लिए मरें।

अक्टूबर क्रान्ति की एक अन्य महान उपलब्धि थी कि उसने स्त्रियों और पुरुषों के बीच वर्ग समाज में मौजूद घृणित असमानता पर प्रहार किया। यह तो नहीं कहा जा सकता कि यह असमानता कुछ वर्षों में समाप्त की जा सकती है, मगर अक्टूबर क्रान्ति ने लैंगिक असमानता की जड़ों पर भयंकर चोट की। स्त्रियों को वोट देने का अधिकार, समान वेतन का अधिकार और सामाजिक जीवन में प्रखर और मुखर उपस्थिति का अधिकार मिला। समाजवाद के निर्माण में सोवियत संघ में स्त्री मज़दूरों और आम तौर पर स्त्रियों ने महती भूमिका निभायी। पहली बार इंजन ड्राइवर से लेकर वैज्ञानिक जैसे पेशों में औरतों का प्रवेश हुआ। स्त्रियों को मिली इस आज़ादी ने रूस के सामाजिक इतिहास में एक क्रान्तिकारी और युगान्तरकारी भूमिका निभायी।

लेकिन इन सभी उपलब्धियों के आधार में जो सबसे बड़ा क़दम मौजूद था जो कि अक्टूबर क्रान्ति के बाद समाजवादी सत्ता ने उठाया वह था पूँजीवादी निजी सम्पत्ति का ख़ात्मा और इस तौर पर पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के सबसे अहम पहलू यानी पूँजीवादी निजी सम्पत्ति सम्बन्धों पर प्राणान्तक चोट। क्रान्ति के कुछ माह के भीतर ही सभी बैंकों, वित्तीय संस्थानों और बड़े कल-कारख़ानों व खानों-खदानों का राष्ट्रीकरण तत्काल प्रभाव से कर दिया गया। 1920 आते-आते रूस में 10 मज़दूरों वाले छोटे कारख़ानों का भी राष्ट्रीकरण कर दिया गया था। ज़मीन का भी राष्ट्रीकरण किया गया हालाँकि उसके साथ रैडिकल बुर्जुआ भूमि सुधार के तौर पर ज़मीनें अलग-अलग किसान परिवारों को भोगाधिकार हेतु दी गयीं। 1921 में 'नयी आर्थिक नीतियों' के लागू होने पर समाजवादी सत्ता को कुछ कदम पीछे हटाने पड़े थे क्योंकि 1917 से 1920 तक जारी गृहयुद्ध के दौरान पैदा हुए संकट ने समाजवादी सत्ता को किसान वर्ग के एक अच्छे-ख़ासे हिस्से से अलगावग्रस्त कर दिया था। इस दौरान किसान आबादी के मँझोले और ऊपरी मँझोले हिस्सों ने (जो कि क्रान्ति के बाद के भूमि सुधार के बाद बहुसंख्यक हिस्सा बन गया था) फसल की जमाख़ोरी करनी शुरू कर दी थी और साथ ही समाजवादी सत्ता के साथ असहयोग कर दिया था। इसके कारण उद्योग और खेती के बीच का विनिमय रुक गया था और औद्योगिक उत्पादन भी बुरी तरह प्रभावित हुआ था क्योंकि मज़दूर आबादी के लिए खाद्यान्न की कमी पैदा हो गयी थी और साथ ही उद्योगों को कच्चे माल पर्याप्त मात्र में नहीं मिल रहे थे। ज़मीन्दारों और साम्राज्यवादी घेरेबन्दी के ख़िलाफ़ गृहयुद्ध में इन दोनों ही चीज़ों की भारी आवश्यकता थी, अन्यथा समाजवादी सत्ता का टिके रहना ही असम्भव हो जाता। नतीजतन, गृहयुद्ध के इस दौर में जिसके दौरान कम्युनिस्ट पार्टी ने "युद्ध कम्युनिज़्म" की नीतियों को लागू किया, मज़दूर वर्ग की राज्यसत्ता को किसानों के अच्छे-ख़ासे हिस्से से जबरन फसल वसूली करनी पड़ी। जबरन फसल वसूली का तय निशाना तो खाते-पीते धनी व मँझोले किसान थे, मगर उसकी ज़द में कई बार निम्न मँझोले किसान भी आ जाते थे, जो कि कुल किसान आबादी की बहुसंख्या थे। इसके कारण किसान वर्ग के बड़े हिस्से ने धनी किसानों के नेतृत्व में सोवियत सत्ता से असहयोग कर दिया था और गृहयुद्ध ने ऐसी स्थिति पैदा कर दी थी कि सोवियत सत्ता तत्काल मज़दूर-किसान संश्रय को फिर से मज़बूत करने के लिए कुछ नहीं कर सकती थी। नतीजतन, गृहयुद्ध की समाप्ति तक मज़दूर सत्ता को किसानों की इस आबादी के असहयोग से निपटने के लिए मजबूरन जबरन फसल वसूली करनी पड़ी। लेकिन 1920 के अन्त में गृहयुद्ध में विजय के बाद तत्काल जबरन फसल वसूली की व्यवस्था को समाप्त किया गया और फसल के रूप में कर की व्यवस्था को बहाल किया गया। 1921 में ही छोटे उद्योगों को भी स्वायत्तता दे दी गयी और बड़े उद्योगों में एक व्यक्ति के प्रबन्धन के सिद्धान्त और बाज़ार अर्थव्यवस्था को छूट दे दी गयी थी। कारण यह था कि रूस का मज़दूर वर्ग अभी राजनीतिक व तकनीकी तौर पर इतना उन्नत नहीं सिद्ध हुआ था कि वह स्वयं समूचे औद्योगिक प्रबन्धन और उत्पादन व विनिमय के संचालन व प्रबन्धन को अपने हाथों में ले पाता। इसलिए लेनिन के नेतृत्व में ये आर्थिक परिवर्तन किये गये जिन्हें 'नयी आर्थिक नीतियों' के नाम से जाना गया। लेनिन ने कहा था कि गृहयुद्ध व 'युद्ध कम्युनिज़्म' का दौर रूसी क्रान्ति पर परिस्थितियों ने थोप दिया था जिस दौरान रूसी समाजवादी सत्ता ने कुछ ऐसे किलों पर कब्ज़ा किया जिन पर कायम रह पाना सम्भव नहीं था। इसलिए मज़दूर सत्ता की हिफ़ाज़त के लिए यह ज़रूरी था कि सर्वहारा सत्ता को कायम रखने के लिए कुछ कदम पीछे हटाये जायें और किसान वर्ग से मज़बूत संश्रय कायम किया जाय, जो कि गृहयुद्ध के बीच कमज़ोर हो गया था। इसका कारण यह था कि रूस में समाजवादी सत्ता विशिष्ट परिस्थितियों के कारण एक ऐसे देश में कायम हुई थी जिसमें मज़दूर आबादी कुल रूसी आबादी का मात्र 10 से 12 प्रतिशत था जबकि मँझोले किसानों समेत समूची किसान आबादी 80 फीसदी से भी ज़्यादा थी। लेनिन ने स्पष्ट किया कि एक ऐसे देश में समाजवादी निर्माण में सर्वहारा सत्ता को कई बार कदम पीछे हटाने होंगे और फिर सधे हुए कदमों से दुबारा आगे बढ़ना होगा। 1921 में 'नयी आर्थिक नीतियों' के लागू होने के करीब 3 से 4 वर्षों में रूस के आर्थिक हालात सुधर गये। 1923 में लेनिन की मृत्यु के बाद समाजवादी निर्माण के कार्य का नेतृत्व संचालन स्तालिन के हाथों में आया।

बोल्शेविक पार्टी में बुखारिन के दक्षिणपंथी अवसरवाद (जो कि पूँजीवादी तरीके से उत्पादक शक्तियों के विकास का मार्ग सुझा रहा था) और त्रात्स्की के वामपंथी दुस्साहसवाद की लाइन के विरुद्ध लड़ते हुए, ज़िनोवियेव व कामेनेव के अवसरवाद के ख़िलाफ़ संघर्ष करते हुए स्तालिन ने समाजवादी निर्माण के कार्य को आगे बढ़ाया। 1927-8 तक उद्योगों में राजकीय नियन्त्रण को वापस मज़बूत किया गया और 1930 से 1935 के बीच स्तालिन के नेतृत्व में सामूहिकीकरण का आन्दोलन चला जिसमें किसानों की व्यापक बहुसंख्या को सहमत करते हुए और बड़े किसानों व कुलकों के प्रतिरोध को कुचलते हुए खेती में भी निजी भोगाधिकार की व्यवस्था को समाप्त किया गया और सामूहिक फार्मों और राजकीय फार्मों के तहत खेती होने लगी। 1936 तक सोवियत संघ में उद्योग और खेती दोनों से ही पूँजीवादी निजी सम्पत्ति का पूर्णतः ख़ात्मा हो गया। इसने सोवियत संघ को बड़े पैमाने के उत्पादन के ज़रिये विकास की लम्बी छलाँगें लगाने का मौका दिया और 1930 के दशक के अन्त तक सोवियत संघ दुनिया की दूसरी सबसे बड़ी औद्योगिक शक्ति बन गया। यह सारा कार्य पूँजीवादी मुनाफ़ाख़ोरी और लूट की बदौलत नहीं बल्कि मज़दूर वर्ग की सामूहिक पहलकदमी के बूते और सामूहिक मालिकाने की व्यवस्था के बूते किया गया। मज़दूर वर्ग के जीवन स्तर में ज़बर्दस्त छलाँग लगी। मज़दूर वर्ग के बेटे-बेटियों को भी अब ऐसा जीवन मिला जिसमें कि उनके बीच से कलाकार, वैज्ञानिक, तकनीशियन, बुद्धिजीवी, अध्यापक और बड़े खिलाड़ी पैदा हुए। सोवियत संघ ने विज्ञान के क्षेत्र में भी ज़बर्दस्त छलाँगें लगायीं और समाजवाद के दौर की उपलब्धियों के बूते पर ही 1950 के दशक के अन्त में सोवियत संघ ने मानव इतिहास में पहले इंसान को अन्तरिक्ष में भेजा जिसका नाम था यूरी गगारिन।

इस समाजवादी विकास के पूरे क्रम के दौरान स्तालिन और बोल्शेविक पार्टी द्वारा तमाम ग़लतियाँ भी हुईं, जिसमें प्रमुख थी यह सोच कि पूँजीवादी निजी सम्पत्ति के ख़ात्मे के बाद समाजवादी क्रान्ति का प्रमुख कार्यभार पूरा हो गया है और अब आर्थिक विकास यानी उत्पादक शक्तियों का विकास ही एकमात्र कार्यभार रह गया है। इस सोच के कारण आर्थिक विकास का ऐसा रास्ता अख़्तियार किया गया जिसने समूचे मज़दूर वर्ग के जीवन को कई गुना बेहतर बनाते हुए भी कुशल व अकुशल, मानसिक श्रम व शारीरिक श्रम, खेती और उद्योग और गाँव और शहर के अन्तर को बढ़ाया। इसके कारण वेतन असमानताएँ व अन्य बुर्जुआ अधिकार पैदा हुए। नतीजतन, समाज में एक ऐसा वर्ग पैदा हुआ जो कि वास्तव में एक नया बुर्जुआ वर्ग था। यह नया बुर्जुआ वर्ग समाज में पैदा होने के साथ पार्टी और राज्यसत्ता में घुसपैठ करने लगा और उसने पार्टी और राज्यसत्ता के भीतर अपनी मोर्चेबन्दी कर ली। इन्हीं समस्याओं के आगे बढ़ने के कारण स्तालिन की मृत्यु के बाद सोवियत संघ में पूँजीवादी पुनर्स्थापना हुई और समाज, पार्टी और राज्यसत्ता के बीच मौजूद एक विशेषाधिकार प्राप्त और अधिशेष में बड़ा हिस्सा हड़पने वाले नये बुर्जुआ वर्ग ने पार्टी के भीतर एक तख्तापलट किया और 1956 में बीसवीं कांग्रेस तक यह प्रक्रिया मुख्यतः और मूलतः पूरी हो गयी।

लेनिन ने और बाद में स्तालिन ने (1948 से 1952 के बीच) स्वयं इस ख़तरे की ओर इशारा किया था।

(पेज 15 पर जारी)

समाज सेवा के नाम पर बच्चियों की तस्करी का मामला

आर.एस.एस. का भ्रष्ट, साम्प्रदायिक, स्त्री विरोधी, जनद्रोही चरित्र हुआ और नंगा

जून 2015 में पटियाला (पंजाब) स्थित 'माता गुजरी कन्या छात्रावास' में 11 और लड़कियों को लाया गया। इन लड़कियों के साथ असम से आयी अन्य 20 लड़कियों को गुजरात के हलवाद स्थित 'सरस्वती शिशु मन्दिर' संस्थान में भेज दिया गया। 'सरस्वती शिशु मन्दिर' सन् 2002 में नरेन्द्र मोदी (उस समय मुख्यमंत्री, गुजरात) द्वारा उदघाटित किया गया था। गुजरात सरकार द्वारा दिये गये प्रमाणपत्र में इसे 'राज्य का गौरव' कहा गया है। पर्दे के पीछे आर.एस.एस. द्वारा संचालित इन संस्थानों का दावा था कि असम से लायी गयी ये तीन से ग्यारह वर्ष की बच्चियाँ अनाथ हैं या बेहद ग़रीब परिवारों से हैं। दावा किया गया कि यहाँ इनका सही ढंग से पालन-पोषण किया जा रहा है और उन्हें पढ़ाया-लिखाया जा रहा है। लेकिन यह सब कहने को ही समाज सेवा है। पिछले दिनों 'आउटलुक' पत्रिका व 'कोबरापोस्ट' वेबसाइट में आयी, गहरी जाँच-पड़ताल आधारित रिपोर्टों में आर.एस.एस. व इसकी विद्या भारती, सेवा भारती, विश्व हिन्दू परिषद जैसे उप-संगठनों की नाजायज़, ग़ैरजनवादी, साम्प्रदायिक व ग़ैरक़ानूनी कार्रवाइयों का पर्दाफ़ाश हुआ है। इन रिपोर्टों से साफ होता है कि आर.एस.एस. अपने साम्प्रदायिक फासीवादी नापाक इरादों के लिए बड़े स्तर पर बच्चियों की तस्करी कर रहा है। अधिक से अधिक हिन्दुत्ववादी स्त्री प्रचारक व कार्यकर्ता तैयार करने के लिए असम से छोटी-छोटी आदिवासी बच्चियों को समाज सेवा के नाम पर आर.एस.एस. संचालित प्रशिक्षण शिविरों में भेजा रहा है। इन रिपोर्टों से जो सच सामने आया है वह तो बस एक झलक ही है। दशकों से जिस बड़े स्तर पर आर.एस.एस. ऐसी कार्रवाइयों को अंजाम दे रहा है उसका तो अंदाज़ा तक नहीं लगाया जा सकता।

सबसे पहली बात तो यह है कि जैसा कि पंजाब व गुजरात में बताया गया है कि असम से जून 2015 में लायी गयी लड़कियाँ अनाथ हैं, सरासर झूठ है। ये लड़कियाँ अनाथ नहीं हैं। ये लड़कियाँ असम के कोकराझार, बोंगाईगांव, गोपालपारा, व चिरांग क्षेत्रों से लायी गयी हैं। विद्या भारती की प्रचारिकाओं द्वारा लड़कियों के माता-पिता को कहा गया कि गुजरात व पंजाब में उनकी लड़कियों का बढ़िया ढंग से पालन-पोषण किया जायेगा। अच्छी पढ़ाई-लिखाई करवा कर ज़िन्दगी "बना दी जायेगी"। माता-पिता से वादा किया गया कि वे उनकी बच्चियों से फोन पर अकसर बात कर सकेंगे। बच्चियों को साल में कई बार घर भेजने का भरोसा भी दिया गया। इन बच्चियों का पालन-पोषण किस तरह से किया जा रहा है और किस तरह की पढ़ाई करवायी जा रही है इसके बारे में तो आगे बात होगी। दो-तीन बच्चियों (जो खाते-पीते घरों से हैं) को छोड़कर बाकी साल भर से अपने माता-पिता से बात नहीं कर पायी हैं। साल भर से माता-पिता अपनी बच्चियों को मिलने व बात करने के लिए तरस रहे हैं लेकिन उनकी कहीं सुनवाई नहीं हो रही। विद्या भारती वाले अब माता-पिता को कह रहे हैं कि वे अपनी बच्चियों को 4-5 साल बाद ही मिल सकते हैं। माता-पिता स्वाल कर रहे हैं कि यह कैसी शिक्षा है, यह कैसी समाज सेवा है जिसके लिए बच्चों को उनके माता-पिता से मिलने और यहाँ तक कि बात करने से भी रोका जा रहा है। विद्या भारती वालों ने बहाने से माता-पिता से उनकी बच्चियों के सारे दस्तावेज़ व तस्वीरें भी अपने कब्ज़े में ले लिये हैं।

सुप्रीम कोर्ट ने सन् 2005 में अपने एक फ़ैसले में बच्चों की सुरक्षा सम्बन्धी हिदायतें जारी की थीं। उन हिदायतों के मुताबिक असम व मणिपुर के बच्चे शिक्षा या अन्य किसी मकसद के लिए अन्य राज्यों में नहीं ले जाये जा सकते। विद्या भारती, सेवा भारती, राष्ट्रीय सेविका समिति, विश्व हिन्दू परिषद के जरिए आर.एस.एस. ने बच्चियों को असम से बाहर ले जाकर सुप्रीम कोर्ट के आदेशों का उल्लंघन किया है।

इसके साथ ही बाल न्याय (बच्चों की देखभाल व सुरक्षा) क़ानून का भी घोर उल्लंघन किया गया है। बाल न्याय क़ानून के तहत राज्य सरकारों द्वारा बाल कल्याण समितियों को मैट्रोपोलिटन मैजिस्ट्रेट स्तर की ताक़तें हासिल हैं। के समितियाँ गिरफ़्तारियों के आदेश दे सकती हैं, बच्चों के कल्याण व सुरक्षा के लिए विभिन्न क़दम उठा सकती हैं। ये समितियाँ विभिन्न जिला स्तर की समितियों से संपर्क कर सकती हैं। बच्चों के घर के नज़दीक बाल कल्याण समितियों को केस व बच्चे ज़रूरी कार्रवाई के लिए सौंप सकती हैं। पुलिस, सरकारी मुलाज़िम या अन्य कोई भी नागरिक बच्चों को इन समितियों के सामने पेश कर सकते हैं या कोई शिकायत दर्ज करा सकते हैं। समिति के सामने बच्चे पेश होने के चार महीने के भीतर समिति को केस पर फ़ैसला सुनाना होता है। अगर कोई संस्थान बच्चों को पढ़ाई या अन्य किसी मकसद से राज्य से बाहर लेकर जाता है तो इससे पहले मूल बाल कल्याण समिति से एन.ओ.सी. (अनापत्ति प्रमाणपत्र) लेना होता है। इन 31 लड़कियों के मामले में कोई एन.ओ.सी. नहीं लिया गया। असम की विभिन्न बाल कल्याण समितियों व अन्य विभागों के आदेशों का भी पालन नहीं किया गया।

16 जून 2015 को असम के बाल अधिकार सुरक्षा आयोग द्वारा असम पुलिस व भारत के बाल अधिकार आयोग व अन्य को लिखे एक पत्र में बच्चियों को सारे नियम-क़ानूनों की धज्जियाँ उड़ाते हुए गुजरात से बाहर ले जाये जाने को 'बाल तस्करी' व बाल न्याय क़ानून के ख़िलाफ़ करार दिया गया। पुलिस को आदेश दिया गया कि सभी 31 लड़कियों को उनके माता-पिता के पास पहुँचाया जाये। लेकिन सरकारी मशीनरी के एक हिस्से की कोशिशों के बावजूद आर.एस.एस. व इसके उप-संगठनों भाजपा, विश्व हिन्दू परिषद, बजरंग दल आदि के सरकारी मशीनरी पर कब्ज़े, असर व गुण्डागर्दी के कारण एक साल बाद भी बच्चियाँ अपने माता-पिता के पास नहीं पहुँच पायी हैं।

9 जून 2015 को राष्ट्रीय सेविका समिति की प्रचारक संध्या असम की इन तीन से ग्यारह साल की उम्र की आदिवासी लड़कियों को लेकर ट्रेन के ज़रिए गुजरात व पंजाब के लिए रवाना हुई। दिल्ली पहुँचते ही संध्या को पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया। संध्या और बच्चियों को पहाड़गंज पुलिस स्टेशन ले जाया गया। आर.एस.एस. के दो सौ से अधिक सदस्य इकट्ठे होकर पुलिस पर संध्या को छोड़ने व बच्चियों को उनके साथ भेजने के लिए दबाव बनाने लगे। राजनीतिक दबाव और बाल कल्याण समिति, सुरेन्द्रनगर (गुजरात) के दबाव के कारण संध्या को छोड़ दिया गया और बच्चियों को उसके साथ भेज दिया गया। यह मामला अखबारों की सुर्खियाँ बनने से पहले ही दबा दिया गया। 18 जून, 2015 को कुमुद कलिता, आई.ए.एस., सदस्य सचिव, राज्य बाल सुरक्षा समाज, असम ने बाल कल्याण समिति कोकराझर व गोसाईगाँव को 11 जून को दिल्ली में घटी इस घटना के बारे में जानकारी दी। इसमें उन्होंने बाल कल्याण समिति, सुरेन्द्रनगर (गुजरात) के रवेयै पर स्वाल उठाते हुए कहा कि बच्चियों को उनके घरों से सम्बन्धित बाल कल्याण समितियों को सूचित किये बिना व ज़रूरी जानकारी जुटाये बिना उसने बच्चियों को आर.एस.एस. के कार्यकर्ताओं के साथ क्यों जाने दिया। विभिन्न बाल कल्याण समितियों को कहा गया कि बच्चियों को असम में वापस उनके घर पहुँचाया जाये। 22 जून 2015 को कोकराझार (असम) की बाल कल्याण समिति ने बाल कल्याण समिति, सुरेन्द्रनगर (गुजरात) से बच्चियों को वापस असम भेजने के लिए कहा। भाजपा शासित गुजरात की इस समिति ने कोई जवाब देना तक ज़रूरी नहीं समझा।

चाइल्ड लाइन, पटियाला को जब असम से पटियाला में हुई बच्चियों की तस्करी के बारे में सूचना मिली तो जाँच-पड़ताल के लिए वहाँ से कुछ अफसर माता गुजरी कन्या छात्रावास, पटियाला पहुँचे। जाँच-पड़ताल के दौरान पता चला कि यह संस्थान ग़ैरक़ानूनी है और लड़कियाँ काफी बुरी हालत में रह रही हैं। जाँच-पड़ताल के दौरान टीम को आर.एस.एस. के सदस्यों की गुण्डागर्दी का सामना करना पड़ा। उन्हें डराया-धमकाया गया और उनपर हमला किया गया। इसी तरह बाल कल्याण समिति का एक अफसर जब 31 बच्चियों के माता-पिता को जाँच-पड़ताल के लिए मिलने गया तो आर.एस.एस. के सदस्यों ने उस पर हमला कर दिया। अफसर की शिकायत पर एफ.आई.आर. भी दर्ज हुई। बाल कल्याण समिति, कोकराझार ने उच्च न्यायलय, असम, सी.जे.एम. व जिला सेशन जल, कोकराझार को आर.एस.एस. के ख़िलाफ़ शिकायतें भी भेजीं। असम की बाल कल्याण समितियों द्वारा आर.एस.एस. की कार्रवाई को 'बाल तस्करी' करार देने व बच्चियों को वापिस भेजने के आदेशों के बाद सम्बन्धित संस्थाओं ने बच्चियों के परिजनों से हलफ़नामे ले लिये। ये हलफ़नामे पूरी तरह ग़ैरक़ानूनी व नाजायज़ थे। सुप्रीम कोर्ट के फ़ैसले के मुताबिक असम व मणिपुर से बच्चों को बार नहीं भेजा जा सकता। इसके लिए बच्चियों के माता-पिता से सहमति लेने का कोई मतलब नहीं बनता। दूसरे, ये हलफ़नामे बच्चियों को असम से ले जाने के महीनों बाद बनाये गये थे। इन हलफ़नामों में लिखा गया है कि ये परिवार बाढ़ पीड़ित हैं और बहुत ग़रीब हैं और अपनी बच्चियों का पालन-पोषण नहीं कर सकते। सभी हलफ़नामों में नाम-पते को छोड़कर बाकी सारे शब्द एक ही हैं और ये अंग्रेज़ी में बनाये गये हैं जिससे ये हलफ़नामे परिजनों के समझ में नहीं आये। इनमें से कोई भी परिवार बाढ़ पीड़ित नहीं है। इनमें से कई परिवार ऐसे ग़रीब भी नहीं हैं कि बच्चियों का पालन-पोषण न कर सकें। साफ पता लगता है कि ये हलफ़नामे परिजनों को धोखे में रखकर बनाये गये हैं।

हमने उपर देखा है कि किस भ्रष्ट ढंग से असम की इन नन्हीं बच्चियों को उनके माता-पिता से दूर कर दिया गया है। इसे बच्चियों की तस्करी के सिवा और कुछ नहीं कहा जा सकता। पंजाब व गुजरात में हुई 31 बच्चियों की तस्करी की जाँच-पड़ताल ने एक बार फिर, खुद को ''देशभक्त'', ''ईमानदार'', ''समाज सेवक'', कहने वाले हिन्दुत्ववादी कट्टरपंथी आर.एस.एस. और भाजपा, विद्या भारती, विश्व हिन्दू परिषद, सेवा भारती जैसे इसके संगठनों का भ्रष्ट, जनद्रोही चेहरा जगज़ाहिर कर दिया है। हमने देखा है कि किस तरह सरकारी मशीनरी ने इनकी मदद की है। पंजाब में अकाली भाजपा सरकार है और गुजरात में भाजपा की सरकार है। सरकार पर काबिज़ होने के चलते इन्हें अपने घटिया मंसूबे पूरे करने के और खुले मौके मिल रहे हैं और ये जनता के जनवादी अधिकारों का मज़ाक बना रहे हैं। अब असम में भी भाजपा की सरकार आ गयी है। आर.एस.एस. को अब वहाँ भी बच्चियों की तस्करी जैसी कार्रवाइयों को अंजाम देने की छूट मिल गयी है।

'आउटलुक' में रिपोर्ट छपने के बाद आर.एस.एस. ने पत्रकार नेहा दीक्षित (जिन्होंने यह खोजी रिपोर्ट तैयार की), पत्रिका के सम्पादक कृष्णा प्रसाद व प्रकाशक के ख़िलाफ़ एफ.आई.आर. दर्ज करवा दी। बाल तस्करी के दोषी आर.एस.एस. के व्यक्तियों के ख़िलाफ़ कार्रवाई करने की जगह पुलिस ने नेहा दीक्षित, सम्पादक व प्रकाशक के ख़िलाफ़ ही कार्रवाई कर दी। आउटलुक

(पेज 12 पर जारी)

आरएसएस की दुर्गा वाहिनी का एक प्रशिक्षण शिविर - बचपन से ही नफ़रत और हिंसा का पाठ पढ़ाया जाता है

भारत और पाकिस्तान — अन्धराष्ट्रवादी प्रचार बनाम कुछ ज़मीनी सच्चाइयाँ

भारत और पाकिस्तान की जनता के असली दुश्मन उनके सर पर बैठे हैं

पिछले दिनों प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने पाकिस्तान की लानत-मलामत करते हुए कहा कि भारत सॉफ्टवेयर का निर्यात करता है जबकि पाकिस्तान आतंक का । उन्होंने पाकिस्तान को भारत से सीखकर ग़रीबी-बेरोज़गारी के ख़िलाफ़ लड़ने की नसीहत दी। नंगी सच्चाई यह है कि भारतीय मीडिया में राष्ट्रीय विकास का प्रायोजित शोर कई सच्चाइयों पर पर्दा डाल देता है।

सच्चाई यह है कि आम जनता की जीवन-स्थितियों के कई पैमानों की कसौटी पर पाकिस्तान भारत से आगे है। वैश्विक ग़रीबी पर संयुक्त राष्ट्र संघ की एक रिपोर्ट के अनुसार कुल योग के अर्थ में 41.6 प्रतिशत भारतीयों की प्रतिदिन आय 78 पेंस से भी कम है जबकि ऐसे पाकिस्तानियों की संख्या 22.6 प्रतिशत है । संयुक्त राष्ट्र ने शिक्षा, बाल-मृत्यु-दर, पौष्टिक भोजन, साफ-सफाई पूर्ण जीवन-स्थितियों और पेयजल, बिजली, शौचालय आदि की उपलब्धता के आधार पर बहुआयामी ग़रीबी सूचकांक तैयार किया है । इसके आधार पर 53.7 प्रतिशत भारतीय ग़रीब हैं जबकि 49 प्रतिशत पाकिस्तानी। **स्वास्थ्य और शिक्षा के सामाजिक सेक्टरों में भारत न केवल पाकिस्तान बल्कि बांग्लादेश, नेपाल और श्रीलंका से भी पीछे है।** भारत में प्रति एक लाख की आबादी पर 65 डाक्टर हैं , जबकि पाकिस्तान में 81 । 5 वर्ष से कम उम्र के कम वज़न वाले बच्चों का अनुपात भारत में 43.5 प्रतिशत है, जबकि पाकिस्तान में 20.5 प्रतिशत।

दिलचस्प बात यह है कि जेंडर-समानता के मामले में भी भारत पाकिस्तान और बांग्लादेश से पीछे है। जेंडर-समानता का पैमाना संयुक्त राष्ट्र ने प्रसव के दौरान माताओं की मृत्यु-दर, किशोर-वय में गर्भधारण, शिक्षा और विधायिकाओं में एवं कार्यस्थलों पर स्त्रियों की प्रतिशत मौजूदगी के आधार पर तैयार किया है। पहले बच्चे की पैदाइश के समय भारतीय माँ की औसत उम्र 19.9 वर्ष होती है जबकि पाकिस्तानी माँ की 23.4 वर्ष।

भारत द्वारा सॉफ्टवेयर-निर्यात की सच्चाई यह है कि यहाँ सॉफ्टवेयर के जो भी काम विश्व-बाज़ार के लिए होता है उनमें से अधिकांश अमेरिकी कम्पनियों के लिए होते हैं। ऐसा काम भारत में कराना सॉफ्टवेयर-उद्योग के पश्चिमी दैत्यों के लिए काफ़ी सस्ता पड़ता है।

बेशक़ पाकिस्तान आतंक का निर्यात करता है। भारत को आतंक के निर्यात की ज़रूरत नहीं पड़ती, क्योंकि यहाँ आतंक का बहुत बड़ा आन्तरिक बाज़ार है। मालेगांव, समझौता धमाका, गुजरात-2002, से लेकर दादरी-मुज़फ्फरनगर-लव जेहाद-'घर'-वापसी-गोमाता....आदि-आदि साम्प्रदायिक आतंकवाद नहीं तो और क्या है? इससे अलग वह राजकीय आतंकवाद भी है जिसकी अलग-अलग बानगी कश्मीर और उत्तर-पूर्व से लेकर छत्तीसगढ़ तक में देखने को मिलती है।

आँखों से अन्धराष्ट्रवाद का चश्मा उतारकर सच्चाइयों को देखने की ज़रूरत है। भारत और पाकिस्तान की जनता के असली दुश्मन उनके सर पर बैठे हैं। भारत का शासक पूँजीपति वर्ग भारतीय जनता का उतना ही बड़ा दुश्मन है जितना पाकिस्तानी पूँजीपति वर्ग पाकिस्तानी जनता का। अन्धराष्ट्रवाद की लहर दोनों देशों की जनता का ध्यान मूल मुद्दों से भटकाती है।

जनता में अन्धराष्ट्रवादी जुनून पैदा करना हर संकटग्रस्त बुर्जुआ राज्यसत्ता और विशेषकर फासिज्म का अंतिम शरण्य है। धार्मिक-नस्ली कट्टरता और दंगों से भी अधिक फ़ासिस्ट अन्धराष्ट्रवादी जुनून और युद्ध भड़काने के हथकण्डे में भरोसा रखते हैं । पड़ोसी देश के विरुद्ध नफ़रत का उबाल, सीमा पर तनाव और सीमित स्तर पर युद्ध भारत और पाकिस्तान—दोनों देशों के शासकों की ज़रूरत है । साम्राज्यवादियों के तो फ़ायदे ही फ़ायदे हैं। मन्दी के इस दौर में हथियारों की जमकर बिक्री होगी, युद्धरत देशों में से एक या दूसरे के साथ नज़दीकी बढ़ाकर माल बेचने और पूँजी-निर्यात के अवसर मिलेंगे और भारतीय उपमहाद्वीप में अधिक प्रभावी हस्तक्षेप के अनुकूल अवसर मिलेंगे। हर हाल में भुगतना दोनों देशों की जनता को है जो युद्ध में चारे के समान इस्तेमाल होगी और पूँजी की निर्बन्ध-निरंकुश लूट का शिकार होगी।

जब भी दोनों देशों के हुक्मरान अपनी जनता के बढ़ते असन्तोष से घबराते हैं, सीमा पर तनाव शुरू हो जाता है।

— कविता कृष्णपल्लवी

समाज सेवा के नाम पर बच्चियों की तस्करी का मामला

आर.एस.एस. का भ्रष्ट, साम्प्रदायिक, स्त्री विरोधी, जनद्रोही चरित्र हुआ और नंगा

(पेज 11 से आगे)

पर आर.एस.एस. के दबाव के कारण सम्पादक कृष्णा प्रसाद को पद से ही हटा दिया गया।

लड़कियों की तस्करी के पीछे आर.एस.एस. के ख़तरनाक साम्प्रदायिक फासीवादी इरादे हैं। ऐसी लड़कियों को कट्टरवादी हिन्दू बनाया जाता है, फिर उन्हें अपने समुदाय में प्रचार के लिए भेजा जाता है। इन बच्चियों की ज़िन्दगी बनाने में संघियों की कोई दिलचस्पी नहीं है। वे उन्हें अपनी राजनीति के लिए इस्तेमाल करना चाहते हैं। ये घिनौना खेल आर.एस.एस. देश के कई इलाक़ों में काफी समय से खेल रहा है। लेकिन इस तरह इसका पर्दाफ़ाश पहली बार हुआ है। ये बच्चियाँ बोडो तबके से सम्बन्धित हैं। बोडो लोग हिन्दू धर्म का हिस्सा नहीं हैं। लेकिन आर.एस.एस. अपने साम्प्रदायिक इरादों के तहत भारत के सारे लोगों को मूल रूप से हिन्दू कहता रहा है। इन हिन्दुत्ववादियों का स्पष्ट कहना है कि भारत में रह रहे ग़ैर-हिन्दुओं की हिन्दू धर्म में "घर-वापसी" करायी जायेगी। इसी मकसद से ग़ैर-हिन्दू आदिवासियों में झूठा प्रचार किया जा रहा है कि वे मूल रूप से हिन्दू ही हैं। जिस तरह आर.एस.एस. आम हिन्दुओं के मन में मुसलमानों और ईसाइयों के प्रति नफ़रत पैदा करता है उसी तरह आदिवासियों को भी उनके ख़िलाफ़ भड़काया जा रहा है। आदिवादियों के हिन्दुत्वीकरण के ज़रिए भाजपा के लिए वोट बैंक भी पक्का किया जाता है। हिन्दुत्वीकरण की प्रक्रिया के तहत आदिवादियों को अपने जाल में फँसाकर हिन्दू रीति-रिवाज निभाने के लिए कहा जाता है। आदिवासी समाज में स्त्रियों को काफ़ी हद तक आज़ादी और बराबरी हासिल है। लेकिन अब उन्हें पति, पिता, भाई (यानि पुरुष) की हर बात मानने, उनकी सेवा करने के लिए प्रेरित किया जाता है। लड़कियों और उनके परिजनों में लड़कियों के प्रेम करने, ''पश्चिमी पहरावे'', मोबाइल इस्तेमाल करने आदि के ख़िलाफ़ मानसिकता पैदा की जाती है।

आदिवासियों में हिन्दुत्ववादी साम्प्रदायिक एजेण्डा लागू करने के लिए स्त्री प्रचारक काफी प्रभावशाली साबित हो रही हैं। आर.एस.एस. ने असम के बोडो आदिवासियों में से कुछ स्त्री प्रचारक तैयार की हैं। उनका भी असम से बाहर आर.एस.एस. की संस्थाओं में पालन-पोषण हुआ है। इनमें से कुछ अब असम में पूर्णकालिक आर.एस.एस. कार्यकर्ता के रूप में काम कर रही हैं और बाकी अपना गृहस्थ जीवन जीते हुए कार्यकर्ता के रूप में काम करती हैं। पूर्णकालिक प्रचारक लड़कियाँ शादी नहीं करतीं। पुरुषों के मुकाबले स्त्रियाँ आदिवासियों का भरोसा जीतने में अधिक कामयाब होती हैं। उनके जरिए हिन्दुत्ववादी सोच को आदिवादियों के मन में बैठाने में अधिक कामयाबी मिलती है। अधिक से अधिक स्त्री प्रचारक व कार्यकर्ता तैयार करने के लिए असम से छोटी-छोटी आदिवासी बच्चियों को समाज सेवा के नाम पर आर.एस.एस. संचालित प्रशिक्षिण शिविरों में भेजा रहा है। जिन इलाकों से 31 बच्चियों की गुजरात व पंजाब में तस्करी की गयी है उन इलाकों में तीन वर्ष पहले 3 बोडो स्त्री प्रचारकों की तैनाती की गयी थी। उन्होंने आर.एस.एस. के लिए कितने प्रभावशाली ढंग से काम किया है इसका अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है दो वर्षों के भीतर ही उन्होंने लगभभ 500 लड़कियों को देश के विभिन्न हिस्सों में चल रहे इसके ट्रेनिंग कैंम्पों में भेजने में कामयाबी हासिल की है।

ट्रेनिंग कैम्पों में बच्चियों को कट्टर हिन्दुत्ववादी विचारधारा से लैस किया जाता है। छोटी-छोटी बच्चियों को मंत्र रटाये जाते हैं। उन्हें ''हिन्दू राष्ट्र''की सेविकाओं के रूप में जीवन जीने के लिए प्रेरित किया जाता है। पुरुष-प्रधान सोच उनके मन में कूट-कूट कर भरी जाती है। मुसलमानों और ईसाइयों को खलनायक, हिन्दुओं के शत्रुओं के तौर पर पेश करने वाली कहानियाँ सुनायी व रटाई जाती हैं। कश्मीर व अन्य राष्ट्रीयताओं की जनता के संघर्षों के ख़िलाफ़ नफ़रत पैदा की जाती है। आर.एस.एस. का मानना है कि बालिग व्यक्तिओं को कट्टर हिन्दू बनाना काफी मुश्किल होता है। अगर बचपन से ही काम किया जाये तो हिन्दुत्वादी कट्टर मानसिकता काफी अच्छी तरह मन में भरी जा सकती है। इसी लिए तीन-तीन साल की बच्चियों को आर.एस.एस. के ट्रेनिंग कैम्पों में भेजा जा रहा है। उनके मन में आर.एस.एस. के हिन्दू राष्ट्र के निर्माण के लिए पत्नियों, माताओं, बहनों, बहुओं, बेटियों के रूप में पुरुष प्रधानता को स्वीकारने की बात बैठायी जाती है। आर.एस.एस. की वीरता की धारणा में पुरुष-प्रधानता बुनियादी चीज़ है, निर्विवाद है (हर धर्म के कट्टरपंथियों में यह बात साझी है)। स्त्रियों की वीरता की हिन्दुत्ववादी धारणा में ज़रूरत के मुताबिक कुछ जगह पूर्णकालिक स्त्री प्रचारकों के लिए भी है। लेकिन उनकी हैसियत दूसरे दर्जे की ही है। उन्हें तो बस ''वीर'' कट्टपंथी हिन्दू पुरुषों द्वारा हिन्दू राष्ट्र के निर्माण में मदद ही करनी है।

आर.एस.एस. के इन ट्रेनिंग कैम्पों में बच्चियों को ज़रूरी सुविधाओं की बहुत कमी तो रहती ही है इसके साथ ही उनपर एक बड़ा जुल्म यह भी है कि उन्हें उनके मूल असमिया माहौल से काट दिया जाता है। वे अपने लोगों, भाषा, संस्कृति से पूरी तरह कट जाती हैं। उन पर एक पराई भाषा व संस्कृति थोप दी जाती है। यह उनपर अत्याचार नहीं तो और क्या है? इसे उनकी ज़िन्दगी बरबाद करना न कहा जाये तो और क्या कहा जाये?

सम्प्रदायिक फासीवादी एजण्डा आगे बढ़ाने के लिए आर.एस.एस. बड़े स्तर पर ''समाज सेवा'' का सहारा लेती है। आर.एस.एस. यह काम अधिकतर अपना नाम पीछे रखकर करती है। विद्या भारती, सेवा भारती जैसे ''समाज सेवक'', ''समाज सुधारक'' उप-संगठनों के जरिए यह काम अधिक किया जाता ह। सन् 1986 से आर.एस.एस. द्वारा एकल विद्यालय चलाया जा रहे हैं। यह काम विश्व हिन्दू परिषद के जरिए किया जा रहा है। इन विद्यालयों में आम तौर पर एक ही अध्यापक होता है। सन् 2013 के एक आँकड़े के मुताबिक भारत में आदिवासी इलाकों में 52 हज़ार एकल विद्यालय हैं। इस समय असम के कोकराझार जिले में 290 से अधिक एकल विद्यालय हैं। इन विद्यालयों में कुछ घण्टे ही ''पढ़ाया'' जाता है। यह एक तरह के ट्यूशन सेंटर हैं जो स्कूली पढ़ाई में मदद करने के नाम पर चलाये जाते हैं। लेकिन इन एकल स्कूलों में बच्चों को इतिहास, जीव विज्ञान, और भूगोल की हिन्दुत्ववादी समझ के मुताबिक पढ़ाई करायी जाती है। बच्चों को धर्म चेतन, आज्ञाकारी व धर्म के लिए जान लेने-देने की भावना वाले हिन्दुत्ववादी बनाने पर ज़ोर दिया जाता है। विद्या भारती जो स्कूल चलाती है वे अलग हैं।

आर.एस.एस. अपने खतरनाक हिन्दुत्ववादी जनविरोधी इरादों को पूरा करने के लिए किसी भी हद तक गिर सकती है। तीन-तीन साल की बच्चियों की जिन्दगी से खिलवाड़ करने से भी गुरेज नहीं करती। इस लेख में हम सिर्फ़ इसकी एक झलक देखी है। अगर हम समाज में सभी धर्मों के लोगों के बीच भाईचारा चाहते हैं, जनता को उसके वास्तविक मुद्दों पर एकजुट व संघर्षशील देखना चाहते हैं और अगर हम नन्हीं बच्चियों को इन साम्प्रदायिक जनूनी गिद्धों का शिकार होने से बचाना चाहते हैं तो हमें आर.एस.एस. व ऐसी अनेक साम्प्रदायिक ताक़तों का डटकर विरोध करना होगा, इनकी काली करतूतों का जनता में पर्दाफ़ाश करना होगा और जनता को इनके ख़िलाफ़ संगठित करना होगा।

— रणबीर

अपनी नाकामियाँ छुपाने के लिए मोदी सरकार का एक और धोखा!

(पेज 1 से आगे)

लगा हुआ है। आज देश के काले धन का अधिकांश हिस्सा बैंकों के माध्यम से पनामा, स्विट्ज़रलैंड और सिंगापुर के बैंकों में पहुँच जाता है। आज असली भ्रष्टाचार श्रम की लूट के अलावा सरकार द्वारा ज़मीनों और प्राकृतिक सम्पदा को औने-पौने दामों पर पूँजीपतियों को बेचकर किया जाता है। साथ ही बड़ी कम्पनियों द्वारा कम या अधिक के फर्जी बिलों द्वारा, बैंकों के कर्जों के भुगतान न देने और उसे बाद में बैंकों द्वारा नॉन परफ़ार्मिंग सम्पत्ति घोषित करने और उसका भुगतान जनता के पैसे से करने, बुरे ऋणों (बैड लोन) की माफ़ी और उसका बैंकों को भुगतान जनता के पैसों से करके किया जाता है। पूँजीपतियों द्वारा हड़पा गया यह पैसा विदेशी बैंकों में जमा होता है और फिर वहाँ से देशी और विदेशी बाज़ारों में लगता है। हालाँकि इस भ्रष्टाचार में कालेधन का एक हिस्सा छोटे व्यापारियों और अफ़सरों को भी जाता है लेकिन यह कुल काले धन के अनुपात में बहुत छोटा है।

मोदी सरकार के काले धन की नौटंकी का पर्दाफ़ाश इसी से साफ हो जाता है कि मई 2014 में सत्ता में आने के बाद जून 2014 में ही विदेशों में भेजे जाने वाले पैसे की प्रतिव्यक्ति सीमा 75,000 डॉलर से बढ़ाकर 1,25,000 डॉलर कर दिया जो अब 2,50,000 डॉलर हो चुकी है। केवल इसी से पिछले 11 महीनों में 30,000 करोड़ रुपये का धन विदेशों में गया है। विदेशों से काला धन वापस लाने और भ्रष्ट लोगों को दो दिन में जेल भेजने वाली मोदी सरकार के दो साल बीत जाने के बाद भी एक व्यक्ति भी जेल नहीं भेजा गया। क्योंकि इस सूची में मोदी के चहेते अम्बानी, अडानी से लेकर अमित शाह, स्मृति ईरानी और बीजेपी के कई नेताओं के नाम हैं। क्या हम इन तथाकथित देशभक्तों की असलियत को नहीं जानते जो हर दिन सेना का नाम तो लेते हैं पर सेना के ताबूत में भी इन्होंने ही घोटाला कर दिया था? क्या मध्यप्रदेश का व्यापम घोटाला, पंकजा मुंडे और वसुंधरा राजे के घोटालों की चर्चा हम भूल चुके हैं? क्या हम नहीं जानते कि विजय माल्या और ललित मोदी जैसे लोग हज़ारों करोड़ धन लेकर विदेश में बैठे हैं और यह इन्हीं की सरकार में हुआ। आज देश में 99 फ़ीसदी काला धन इसी रूप में है और हम साफ़-साफ़ जानते हैं कि इसमें देश के नेता-मंत्रियों और पूँजीपतियों की ही हिस्सेदारी है।

अब दूसरी बात, आज देश में मौजूद कुल 500 और 1000 के नोटों का मूल्य 14.18 लाख करोड़ है जो देश में मौजूद कुल काले धन का महज़ 3 फ़ीसदी है। जिसमें जाली नोटों की संख्या सरकारी संस्थान 'राष्ट्रीय सांख्यकीय संस्थान' के अनुसार मात्र 400 करोड़ है। अगर एकबारगी मान भी लिया जाय कि देश में मौजूद इन सारे नोटों का आधा काला धन है (जो कि है नहीं) तो भी डेढ़ फ़ीसदी से अधिक काले धन पर अंकुश नहीं लग सकता। दूसरी तरफ जिन पाकिस्तानी नकली नोटों की बात कर मोदी सरकार लोगों को गुमराह कर रही है वह

तो 400 करोड़ ही है जो आधा फ़ीसदी भी नहीं है। दूसरे, सरकार ने 2000 के नये नोट निकाले हैं जिससे आने वाले दिनों में भ्रष्टाचार और काला धन 1000 के नोटों की तुलना में और बढ़ेगा। इससे पहले चाहे 1948 या 1978 में नोटों को हटाने का फ़ैसला हो, इतनी बुरी मार जनता पर कभी नहीं पड़ी। इससे यह सहज ही समझा जा सकता है कि मोदी सरकार का यह पैंतरा जनता को बेवकूफ़ बनाने के सिवा और कुछ नहीं है। यही भाजपा 2014 में 2005 के पहले वाले नोट बन्द करने के फ़ैसले पर धमाचौकड़ी मचाते हुए विरोध कर रही थी!

फिर मोदी सरकार ने क्यों लिया यह फ़ैसला?

दोस्तो, मोदी सरकार जब आज देश की जनता के सामने अपने झूठे वायदों, बेतहाशा महँगाई, अभूतपूर्व बेरोजगारी और किसान-मज़दूर आबादी की भयंकर लूट, दमन, दलितों, अल्पसंख्यकों पर हमले तथा अपनी साम्प्रदायिक फासिस्ट नीतियों के कारण अपनी ज़मीन खो चुकी है तब फिर एक बार नोट बन्द कर काले धन के जुमले के बहाने अपने को देशभक्त सिद्ध करने की कोशिश कर रही है और अपने को फिर जीवित करना चाहती है। दूसरी बात जब उत्तर प्रदेश और अन्य जगहों पर चुनाव आसन्न है तो ऐसे में जनता की आँख में अपने झूठे प्रचारों के माध्यम से एक बार और धूल झोंकने की साज़िश है। साथ ही अनेक ख़बरें और तथ्य यह बता रहे हैं कि इस घोषणा से पहले ही भाजपा ने अपने लोगों के नोट बदलने का इन्तज़ाम कर लिया है। उदाहरण के लिए नोट बन्दी की घोषणा से कुछ ही घण्टे पहले पश्चिम बंगाल भाजपा ने अपने खाते में 1 करोड़ की रकम जमा करवायी।

तीसरी बात जो सबसे महत्वपूर्ण है, देश में मन्दी और पूँजीपतियों द्वारा बैंकों के कर्ज़े को हड़प जाने के बाद जनता की गाढ़ी कमाई की जो मुद्रा बैंकों में जमा होगी उससे पूँजीपतियों को फिर मुनाफ़ा पीटने के लिए पैसा दिया जा सकेगा। पूँजीपतियों द्वारा लाखों करोड़ रुपये के कर्ज़े बैंकों से लिये गये हैं और उनको चुकाया नहीं गया है। आज सार्वजनिक क्षेत्र के बैंक 6,00,000 करोड़ रुपये की भयंकर कमी से जूझ रहे हैं। पूँजीपतियों को फिर ऋण चाहिए और सरकार अब जनता के पैसे की डाकेज़नी कर बैंकों को भर रही है जिससे इनको ऋण दिया जायेगा, जिसमें 1,25,000 करोड़ रिलायंस और 1,03,000 करोड़ वेदांता को दिये जाने हैं। इस कतार में कई और बड़े पूँजीपति भी शामिल हैं।

इस नोट बन्दी में जनता के लिए क्या है? साथियो, मोदी सरकार की नोट बन्दी जनता के लिए वास्तव में एक और धोखा, एक और छल-कपट, एक और लूट के अलावा कुछ नहीं है। इस बिकाऊ फासीवादी प्रचार तंत्र पर कान देने की बजाय ज़रा गम्भीरता से सोचिये कि आज बैंकों और एटीएम पर लम्बी कतारों में कौन लोग खड़े हैं? क्या उसमें टाटा, बिड़ला, अम्बानी, अडानी या कोई मोदी और अमित शाह या आपके आसपास का कोई बड़ा व्यापारी, नेता या कोई बड़ा अफसर खड़ा है? तो क्या देश का सारा काला धन 5,000 से 15,000 रुपये महीना कमाने वाले मज़दूर और आम जनता के पास है? जो दिल्ली में रिक्शा चलाने वाला मज़दूर है, दिहाड़ी मज़दूर है, रेहड़ी खोमचा लगाता है, छोटी-मोटी नौकरी करने वाली आम जनता है, वह बैंकों के सामने सुबह से शाम तक लाइन में लगी है। कितनों के पास बैंक खाते नहीं हैं, कितनों के पास कोई पहचान पत्र नहीं हैं। लोगों के पास आने-जाने के पैसे नहीं हैं, राशन के पैसे नहीं हैं। दलालों की चाँदी है। अफवाहें उड़ रहीं हैं; कहीं नमक महँगे दामों पर बिक रहा है तो कहीं 500 के नोट 300 और 400 रुपये में लिये जा रहे हैं। यही हाल पूरे देश का है। करोड़ों गरीब लोग जिन्होंने अपनी सालों की कमाई को मुश्किल दिनों के लिए इकट्ठा करके रखा था, सब अपने ख़ून-पसीने की कमाई के काग़ज़ बन जाने से बेचैन हैं। कोई बेटी की शादी को लेकर परेशान है तो कोई अस्पताल में परेशान है। एक महिला लाश लेकर रो रही है कि अंतिम संस्कार के पैसे नहीं है। क्या हम नहीं जानते हैं कि इस देश में अभी भी एक भारी आबादी के पास तो बैंक खाते नहीं हैं, जो अपनी मेहनत पर दो जून की रोटी कमाती है और उसी में से पेट काटकर कुछ पैसे बचाती है? वह आज क्या करे? क्या हम तमाम तकलीफ़ों को चुपचाप सहेंगे क्योंकि मामला "देश" और "कालेधन" का है?

ये भी मत भूलिये कि ऐसे नये नोटों के छपने का जो लगभग 15-20,000 करोड़ रुपया खर्च आयेगा वह भी जनता की गाढ़ी कमाई से ही वसूला जायेगा। उत्पादन और कारोबार की गतिविधियों के ठप्प होने के कारण बढ़ने वाली महँगाई का बोझ भी जनता से ही वसूला जायेगा।

बड़े नोटों पर पाबन्दी - अमीरों के जुर्मों की सज़ा ग़रीबों को

(पेज 16 से आगे)

जा रहा है। नकदी की कमी से इनके छोटे काम-धंधों पर भी असर पड़ा है और मजदूरों को मज़दूरी मिलने में भी दिक्कत पेश आई है। रोज कमाकर पेट पालने वाले ये लोग असल में अमीर काले धन वालों के जुर्म की सज़ा पा रहे हैं।

अगर वर्तमान शासकों को काला धन वास्तव में ही जब्त करना या बन्द करना होता तो ऊपर दिये गये उदाहरणों वाले कारोबारियों की जाँच करते, उसमें पैदा काले धन का पता लगाते और उसे जब्त कर इनको सज़ा दिलवाते। लेकिन सब सामने होते हुए भी इन मामलों में कुछ ना कर पुराने नोटों को बन्द कर नये चलाने की नौटंकी से काले धन और भ्रष्टाचार से लड़ने की नौटंकी की जा रही है। असल में तो शासन में बैठे लोग इस पूँजीपति वर्ग के ही प्रतिनिधि हैं और उनके धन से ही चुनाव लड़कर सत्ता प्राप्त कर उनकी सेवा करते हैं तो उनसे इनके ख़िलाफ़ किसी क़दम की उम्मीद करना ही बेमानी है।

अब नकली नोटों के सवाल पर आते हैं। 'द हिन्दू' और 'हिन्दुस्तान टाईम्स' (11 नवंबर 2016) की रिपोर्ट के अनुसार NIA जैसी केन्द्रीय एजेंसियों और भारतीय सांख्यिकी संस्थान, कोलकाता (ISI) के अनुसार हर वर्ष 70 करोड़ रुपये के नकली नोट प्रचलन में आते हैं और किसी एक समय देश में कुल नकली करेंसी की मात्रा 400 करोड़ रुपये या 10 लाख नोटों में 250 नोट आँकी गयी है। अब इस को ख़त्म करने के लिये पूरी करेंसी को बदलने पर 15-20 हज़ार करोड़ रुपये खर्च करना अगर मूर्खता भी नहीं तो अविवेकी फ़ैसला तो कहा ही जायेगा, जैसे सडक पर चींटी मारने के लिये रोड रोलर चलाना! जहाँ तक पाकिस्तान द्वारा नये नकली नोट ना बना पाने का सवाल है तो दोनों देश एक ही कम्पनी की मशीन, काग़ज़, स्याही ही नहीं, नम्बरों का भी एक ही डिज़ाइन इस्तेमाल करते हैं। आगे आप स्वयं सोचें।

वर्तमान पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था का आधार ही मेहनतकशों के श्रम द्वारा उत्पादित मूल्य को हथियाकर अधिकतम मुनाफ़ा और निजी सम्पत्ति इकट्ठा करना है, जिसमें एक ओर आधी से ज़्यादा सम्पत्ति के मालिक 1% लोग हैं और दूसरी और ग़रीब लोगों की बहुसंख्या। इतनी भयंकर असमानता और शोषण वाले समाज में ना भ्रष्टाचार ख़त्म हो सकता है ना अपराध। इनको ख़त्म करने के लिए तो पूँजीवाद को ही समाप्त करना होगा। हाँ, वास्तविक समस्याओं से जनता का ध्यान हटाने के लिए ऐसे नाटक दुनिया भर में बहुत देशों में पहले भी खूब हुए हैं और आगे भी होते रहेंगे। ख़ास तौर पर मोदी सरकार जो विकास, रोजगार, आदि के बड़े वादे कर सत्ता में आयी थी जो बाद में सिर्फ़ जुमले निकले, उसके लिए एक के बाद ऐसे कुछ मुद्दे और खबरें पैदा करते रहना ज़रूरी है जिससे उसके समर्थकों में उसका दिमागी सम्मोहन टूटने न पाये क्योंकि असलियत में तो इसके आने के बाद भी जनता के जीवन में किसी सुधार-राहत के बजाय और नयी-नयी मुसीबतें ही पैदा हुई हैं। इससे काला धन/भ्रष्टाचार/अपराध/आतंकवाद ख़त्म हो जायेगा – यह कहना शेखचिल्ली के किस्से सुनाने से ज़्यादा कुछ नहीं।

अक्टूबर क्रान्ति के शताब्दी वर्ष की शुरुआत के अवसर पर 'लेनिन कथा' से कुछ अंश

चिनगारी, जो ज्वाला बनेगी!

साइबेरिया की खानों में
मान औ' धैर्य की ज़रूरत अपार,
व्यर्थ न जायेंगे दुखद संघर्ष
और आपके उदात्त विचार।

ये पंक्तियाँ कवि पुश्किन ने नेरचिन्स्क, साइबेरिया, में निर्वासित और खदानों में काम करने को मजबूर दिसम्बरवादी क्रान्तिकारियों को लिखी थीं। इसके उत्तर में कवि-दिसम्बरवादी ओदोयेव्स्की ने उन्हें लिखा :

न होगा व्यर्थ हमारा संघर्ष अथक,
चिनगारी से भड़केंगी ज्वालाएँ!

व्लादीमिर इल्यीच ने अख़बार का नाम 'ईस्क्रा' (चिनगारी) ही रखने का फ़ैसला किया। शूशेन्स्कोये में रहते हुए ही उन्होंने उसकी पूरी योजना तैयार कर ली थी। अब उसे कार्यरूप देना था। साइबेरिया से लौटकर व्लादीमिर इल्यीच प्स्कोव में रहने लगे। अकेले ही। नदेज़्दा कोन्स्तान्तिनोव्ना (लेनिन की जीवनसाथी) की निर्वासन अवधि अभी ख़त्म नहीं हुई थी, इसलिए वह बाक़ी समय के लिए उफ़ा में ही रुक गयीं। व्लादीमिर इल्यीच को प्स्कोव में रहने की इजाज़त थी। वहाँ उन्होंने 'ईस्क्रा' निकालने के लिए तैयारियाँ शुरू कीं। वह विभिन्न शहरों की यात्रा करते। 'ईस्क्रा' में काम करने के लिए साथियों को ढूँढ़ते। अख़बार के लिए लेख लिखने वालों को ढूँढ़ना था। फिर ऐसे आदमियों की तलाश भी ज़रूरी थी, जो अख़बार का गुप्त रूप से वितरण करते। 'ईस्क्रा' को आम तरीक़े से दूकानों और स्टॉलों पर बेचा नहीं जा सकता था। और अगर कोई ऐसा करता, तो उसे तुरन्त जेल हो सकती थी। अख़बार निकालने के लिए पैसों की भी ज़रूरत थी।

ज़मीन-आसमान एक करके चार महीने में व्लादीमिर इल्यीच ने 'ईस्क्रा' की तैयारी पूरी कर ही ली। पर एक सवाल अभी बाक़ी था। अख़बार को छापा कहाँ जाये? रूस में रहते हुए भला कोई ज़ार के ख़िलाफ़, ज़मींदारों और उद्योगपतियों के ख़िलाफ़, पुलिस के अफ़सरों के ख़िलाफ़ अख़बार छापने के लिए तैयार होता? व्लादीमिर इल्यीच को इस बारे में भी काफ़ी सोचना पड़ा।

उन्होंने साथियों से परामर्श किया। अन्त में यह तय हुआ कि उसे विदेश में छापा जाये। बेशक वहाँ भी ऐसा अख़बार पूर्णतया गुप्त रूप से ही निकाला जा सकता था। पर वहाँ रूसी पुलिस के भेदिये इतने अधिक नहीं थे।

व्लादीमिर इल्यीच ने जैसे-तैसे डॉक्टरी सर्टीफ़िकेट का इन्तज़ाम किया और इलाज के बहाने विदेश रवाना हो गये। इससे पहले वह नदेज़्दा कोन्स्तान्तिनोव्ना से भी मिल आये, जिनका निर्वासन नौ महीने बाद ख़त्म होना था। अब वह वतन से दूर जा रहे थे। क्या बहुत अरसे के लिए? जैसे कि बाद में पता चला, बहुत अरसे के लिए।

...तंग सड़कों, नुकीली छतों वाले मकानों और प्रोटेस्टेण्ट गिरजों वाले जर्मन शहर लाइप्ज़िग में बहुत अधिक कल-कारख़ाने और उनसे भी अधिक छापेख़ाने और हर तरह की किताबों की दूकानें थीं। वहाँ कोई पैंतीस साल की उम्र का गेर्मन राऊ नाम का एक जर्मन रहता था। शहर के बाहर एक छोटे-से गाँव में उसका छापाख़ाना था। उसमें मशीन के नाम पर सिर्फ़ एक ही – हालाँकि काफ़ी बड़ी – छपाई मशीन थी और वह भी बहुत पुरानी। उस पर मज़दूरों का खेलकूद अख़बार, तरह-तरह के पोस्टर और पैम्फ़लेट छापे जाते थे।

गेर्मन राऊ सामाजिक-जनवादी था। एक दिन लाइप्ज़िग के सामाजिक- जनवादियों ने उसे बताया कि रूस से एक मार्क्सवादी आया है। रूसी मार्क्सवादी अपना क्रान्तिकारी अख़बार निकालना चाहते हैं और यह तय किया गया है कि उसका पहला अंक लाइप्ज़िग में छपे।

"रूसी साथियों की मदद करनी चाहिए," लाइप्ज़िग के सामाजिक-जनवादियों ने गेर्मन राऊ से कहा।

लाइप्ज़िग आने वाला रूसी मार्क्सवादी और कोई नहीं, व्लादीमिर इल्यीच ही थे। उन्होंने शहर के छोर पर एक कमरा किराये पर लिया। वह हमेशा मुँह अँधेरे ही उठ जाते थे, जब हर कहीं निस्स्तब्धता होती थी। यहाँ तक कि फ़ैक्टरियों के भोंपू भी नहीं बजते होते थे। कमरा बहुत ठण्डा था। दिसम्बर का महीना चल रहा था।

व्लादीमिर इल्यीच ने स्पिरिट के चूल्हे पर पानी उबाला, टिन के मग में चाय बनाकर गरम-गरम पी और हमेशा की तरह घर से निकल पड़े। जाना दूर था, गेर्मन राऊ के छापेख़ाने तक। यही कोई पाँच-छः किलोमीटर का रास्ता होगा। घोड़ाट्राम वहाँ नहीं जाती थी, इसलिए पैदल ही जाना होता था। रास्ते में पैदल या साइकिलों पर सवार मज़दूर और बाज़ार जाने वाले किसानों के ठेले मिलते थे। शहर की सीमा आ गयी। आगे बर्फ़ से ढँके खेत थे। दूर, क्षितिज के पास जंगल का काला साया दिखायी दे रहा था। शहर के छोर पर बसी बस्तियों की बत्तियाँ जल रही थीं। गेर्मन राऊ के छापेख़ाने की खिड़की से लालटेन का उजाला दिखायी दे रहा था।

सारा छापाख़ाना एक बड़े-से कमरे में समाया हुआ था, जिसके आधे हिस्से में पुरानी छपाई मशीन खड़ी थी। कमरे में दो कम्पोज़िंग बॉक्स भी थे। लोहे की अँगीठी में लकड़ियाँ जलते हुए चटक रही थीं। लपटें कँपकँपाती थीं, तो उनके साथ ही दीवारों पर पड़ने वाले साये भी काँप जाते थे।

"आज महत्त्वपूर्ण दिन है," गेर्मन राऊ ने जर्मन में व्लादीमिर इल्यीच से कहा।

व्लादीमिर इल्यीच ने सिर हिलाकर सहमति प्रकट की। सचमुच आज महत्त्वपूर्ण दिन था। अब तक तो तैयारियाँ ही होती रही थीं, पर आज...

कम्पोज़िटर ने भारी ब्लॉक उठाकर मशीन पर चढ़ाया। गेर्मन राऊ ने हत्था घुमाया। मशीन घड़घड़ायी। सिलेण्डर घूमने लगा और अख़बार के पन्ने मशीन से बाहर निकलने लगे। इस तरह 'ईस्क्रा' का पहला अंक छपकर तैयार हुआ।

व्लादीमिर इल्यीच ने एक अंक उठाया। इस घड़ी का वह कब से और कितनी उत्कण्ठा से प्रतीक्षा कर रहे थे!

"अब हमारे पास अपना, मज़दूरों का क्रान्तिकारी अख़बार है! उड़ चलो, हमारे अख़बार, वतन की तरफ़! करो पैदा जागृति और उभारो लोगों को क्रान्ति के लिए!"

व्लादीमिर इल्यीच ने सबको सुनाते हुए अख़बार का नाम पढ़ा : "ईस्क्रा"।

दायीं तरफ़ ऊपर कोने में छपा था :
"चिनगारी से भड़केंगी ज्वालाएँ!"

लेनिन

मुसाफ़िर गाड़ी केनिग्सबर्ग जा रही थी। तीसरे दर्जे के डिब्बे में एक कोने में खिड़की के पास एक नौजवान बैठा था। वह म्यूनिख़ में सवार हुआ था और तब से सारे रास्तेभर ऊँघता रहा था। उसके पैरों के पास एक काफ़ी बड़ा सूटकेस रखा था।

गाड़ी केनिग्सबर्ग पहुँच गयी। यह पत्थर के विफले, गिरजाघरों और लाल खपरैल की छतों वाला पुराना शहर था। बाल्टिक सागर के तट पर होने के कारण यहाँ बन्दरगाह भी था, जिसमें दसियों जहाज़ खड़े थे। उनमें से एक का नाम था 'सेण्ट मार्गरीता'। म्यूनिख़ से आये जर्मन ने इधर-उधर ताका-झाँका और फिर बन्दरगाह की ओर न जाकर पास ही के एक बीयरख़ाने में घुस गया। बीयरख़ाने में भीड़ बहुत थी। चारों तरफ़ तम्बाकू का भूरा, कड़वा धुआँ छाया हुआ था। जर्मन एक ख़ाली जगह पर बैठ गया और सूटकेस को उसने मेज़ के नीचे खिसका दिया। फिर बैरे से सॉसेज मँगाकर बीयर के साथ धीरे-धीरे खाने लगा। इतने धीरे-धीरे कि मानो उसके पास फालतू वक़्त बहुत हो। या हो सकता है कि वह किसी का इन्तज़ार कर रहा था? हाँ, उसे सचमुच 'सेण्ट मार्गरीता' के जहाज़ी का इन्तज़ार था। उससे मिलने के लिए ही वह म्यूनिख़ से आया था, हालाँकि उसे पहले कभी नहीं देखा था। जब भी कोई नया आदमी बीयरख़ाने में आता, म्यूनिख़ से आया हुआ जर्मन दायें हाथ से बालों को दायें कान की तरफ़ सहलाते हुए टकटकी लगाकर उसे देखता। इस तरफ़ किसी का ध्यान भी नहीं जा सकता था, क्योंकि बालों को सहलाना कोई अस्वाभाविक बात नहीं थी। मगर यह एक इशारा था।

आख़िरकार जहाज़ी आ ही गया। समुद्री हवा और धूप से उसका चेहरा ताँबई हो गया था। दरवाज़े पर खड़े-खड़े उसने सभी लोगों पर नज़र डाली और बालों को सहलाते हुए आदमी को देखकर सीधे उसकी तरफ़ बढ़ चला। मेज़ के पास बैठकर उसने पैर से सूटकेस को टटोला और बोला :

"उफ़्फ़, कितनी भयंकर हवा है!"

"अगर अपने रास्ते की तरफ़ है, तो कोई बात नहीं," म्यूनिख़ से आये जर्मन ने जवाब दिया।

"ठीक ही पहचाना, भैया, अपने ही रास्ते की तरफ़ है।"

यह पहचान-वाक्य था। तुरन्त ही दोनों के बीच आत्मीयता पैदा हो गयी। दोनों का एक ही ध्येय था, जिसकी ख़ातिर वे यहाँ बीयरख़ाने में इकट्ठा हुए थे।

बातचीत जल्दी ही ख़त्म हो गयी और दोनों बीयरख़ाने से बाहर निकल आये। अब सूटकेस जर्मन के हाथ में नहीं, बल्कि जहाज़ी के हाथ में था। किसी ने इस बदलाव पर ध्यान नहीं दिया। आख़िर किसी को इससे मतलब भी क्या था? दो साथी जा रहे हैं, बातें कर रहे हैं। चौराहे पर दोनों अलग हो गये। म्यूनिख़ से आया जर्मन स्टेशन की ओर चल पड़ा और सूटकेस 'सेण्ट मार्गरीता' पर बाल्टिक सागर से होते हुए स्वीडन की राजधानी स्टाकहोम की ओर।

रात में हवा बहुत तेज़ हो गयी। लहरें आसमान छूने लगीं। तूफ़ान 'सेण्ट मार्गरीता' को कभी इधर तो कभी उधर फेंकने लगा। अँधेरा ऐसा था कि हाथ को हाथ नहीं सूझता था।

जहाज़ छः घण्टे देर से स्टाकहोम पहुँचा। फ़िनिश जहाज़ 'सुओमी' शायद कभी का हेल्सिंगफ़ोर्स के लिए रवाना हो चुका होगा।

"समय पर नहीं पहुँच पाया," जहाज़ी को अफ़सोस हो रहा था।

अचानक उसे 'सुओमी' दिखायी दिया। वह स्टाकहोम के बन्दरगाह में खड़ा भाप छोड़ रहा था। शायद तूफ़ान की वजह से उसे भी रुक जाना पड़ा था और अब लंगर उठाने की तैयारियाँ कर रहा था।

"आहिस्ता से आगे!" कप्तान ने आदेश दिया।

चक्कों के नीचे पानी खौलने लगा। जहाज़ चल पड़ा।

"वाइस-कप्तान साहब!" भारी सूटकेस को खींचते हुए जहाज़ी चिल्लाया, "केनिग्सबर्ग से आपकी चाची ने पार्सल भेजा है!"

दौड़ने की वजह से जहाज़ी हाँफ रहा था। सूटकेस बहुत भारी था। उसे लगा कि उसकी सारी कोशिश बेकार हो गयी है, क्योंकि 'सुओमी' तट से हट चुका था।

लेकिन नहीं, कोशिश बेकार नहीं गयी। चमत्कार-सा हुआ। कप्तान ने उसका चिल्लाना सुन लिया और...

"आहिस्ता से पीछे!" 'सुओमी' पर आदेश सुनायी दिया। "स्टॉप!"

"वाइस-कप्तान साहब!" जहाज़ी पूरे ज़ोर से चिल्लाया, "आपकी चाची ने गरम स्वेटर भेजे हैं और नया सूट भी।"

घाट पर खड़े सभी लोग ठहाका लगाकर हँस पड़े। न जाने क्यों, सभी ख़ुश थे कि 'सुओमी' पार्सल लेने के लिए वापस लौट आया है। वाइस-कप्तान ने सूटकेस लिया, हाथ हिलाकर जहाज़ी को धन्यवाद दिया और "पार्सल" को अपने केबिन में छिपा लिया

सूटकेस की यात्रा जारी रही।

जब जहाज़ हेल्सिंगफ़ोर्स पहुँचा, तो मूसलाधार बारिश हो रही थी। वाइस-कप्तान ने बरसाती पहनी और सूटकेस उठाकर तेज़ी से घोड़ाट्राम के स्टाप की ओर बढ़ चला। पानी इतना अधिक बरस रहा था कि जैसे बाढ़ ही आ गयी हो। ओह, कहीं बक्से में पानी न चला जाये! वाइस-कप्तान ने इधर-उधर झाँका, पर वह मज़दूर कहीं नहीं दिखायी दिया, जिससे उसे स्टाप पर मिलना था। जहाज़ कुछ घण्टे देर से पहुँचा था। ऊपर से यह मूसलाधार बारिश! सड़कें सुनसान थीं। कहीं वह पीटर्सबर्ग का मज़दूर इन्तज़ार करते-करते ऊब न गया हो! क्या किया जाये? तभी घोड़ाट्राम आती दिखायी दी...पर वह मज़दूर उसमें भी नहीं था। अचानक वाइस-कप्तान ने देखा कि सामने के घर के फाटक से एक आदमी बाहर निकल इधर-उधर देखते हुए उसकी ओर आ रहा है। यही वह मज़दूर था, जिससे उसे मिलना था।

"कैसी बदकिस्मती है! खड़े-खड़े अकड़ गया हूँ," मज़दूर बड़बड़ाया।

"तूफ़ान के कारण देर हो गयी। कब जायेंगे?"

"आज।"

"ठीक है। मैं अभी तार से सूचित कर दूँगा।"

मज़दूर ने सहमति में सिर हिलाया और सूटकेस उठाकर घोड़ाट्राम पर चढ़ गया।

कुछ घण्टे बाद सूटकेस रेलगाड़ी से पीटर्सबर्ग जा रहा था।

गाड़ी ख़ाली पड़े वसन्तकालीन खेतों, बारिश से भीगे गाँवों और निर्जन दाचों की बग़ल से गुज़र रही थी। पीटर्सबर्ग का मज़दूर इन जगहों को भली-भाँति जानता था, इसलिए चुपचाप बैठा अख़बार पढ़ रहा था और बेलोओस्त्रोव स्टेशन की प्रतीक्षा कर रहा था।

बेलोओस्त्रोव से रूस की सीमा शुरू होती थी। वहाँ हमेशा कस्टम चेकिंग होती थी।

कस्टम का आदमी कम्पार्टमेण्ट में आया।

"कृपया अपने सूटकेस दिखाइये।"

पीटर्सबर्ग के मज़दूर ने बिना कोई जल्दबाज़ी दिखाये अपना सूटकेस खोला।

एक जोड़ी कपड़े, पुराना चारख़ानेदार कम्बल और मिठाई का डिब्बा। बस। कस्टम वाले ने सूटकेस के किनारे ठकठकाये, पर सन्देहजनक कुछ भी न मिला।

उसी दिन मज़दूर पीटर्सबर्ग में था और वसील्येव्स्की द्वीप पर एक पत्थर के मकान की सीढ़ियाँ चढ़ रहा था। दूसरी मंज़िल पर दरवाज़े पर ताँबे की प्लेट लगी थी : 'दाँतों का डॉक्टर'

आगन्तुक ने घण्टी बजायी। दो लम्बी और एक छोटी। इसका

(पेज 15 पर जारी)

(पेज 14 से आगे)

मतलब था कि डरने की कोई बात नहीं, अपना ही आदमी आया है।

दाँतों के डॉक्टर ने दरवाज़ा खोला।

"आइये, आपका ही इन्तज़ार था।"

क्रान्तिकारी गुप्त मुलाक़ातों के लिए यहीं एकत्र हुआ करते थे।

डॉक्टर के कमरे में एक लड़की मज़दूर का इन्तज़ार कर रही थी।

"लाइये," उसने कहा और मज़दूर के हाथ से सूटकेस ले लिया। बेचारे ने रास्ते में क्या-क्या नहीं झेला था! तूफ़ान, बारिश, कस्टम चेकिंग...

लड़की ने सूटकेस से चारख़ानेदार कम्बल और दूसरी चीज़ें निकालीं। लेकिन यह क्या? आगन्तुक ने सफ़ाई से सूटकेस का तला दबाया और वह ढक्कन की तरह खुल गया। सूटकेस में दो तले थे। निचले तले में कसकर तह किये हुए अख़बार रखे हुए थे। लड़की ने एक अख़बार उठाया। 'ईस्क्रा'!

अच्छा, तो यह है वह चीज़, जिसे केनिग्सबर्ग, स्टाकहोम, हेल्सिंगफ़ोर्स से होते हुए इतनी मेहनत और इतने गुप्त रूप से म्यूनिख़ से पीटर्सबर्ग पहुँचाया गया है!

लड़की सूटकेस से 'ईस्क्रा' निकालकर अपने टोप के डिब्बे में रखने लगी। जब सब अख़बार आ गये, तो उसने फ़ीते से डिब्बे को बाँध दिया और पीटर्सबर्ग के छोर पर सक्रिय मज़दूर मण्डलियों को बाँटने चल पड़ी।

वह 'ईस्क्रा' की एजेण्ट थी। 'ईस्क्रा' के गुप्त एजेण्ट रूस के सभी बड़े शहरों में थे।

'ईस्क्रा' को गुप्त रूप से जहाज़ों से, रेलगाड़ियों से लाया जाता, सीमा के इस पार पहुँचाया जाता।

'ईस्क्रा' मज़दूरों और किसानों की आँखें खोलता, उन्हें दिखाता कि उनका वास्तविक जीवन क्या है।

'ईस्क्रा' उन्हें सिखाता : "ज़ारशाही के ख़िलाफ़ लड़ो! मालिकों के ख़िलाफ़ लड़ो!"

'ईस्क्रा' उन्हें पार्टी का निर्माण करने के लिए, क्रान्ति के लिए ललकारता।

शीघ्र ही रूस में 'ईस्क्रा' की प्रेरणा से एक शक्तिशाली मज़दूर आन्दोलन शुरू हो गया।

इस विराट आन्दोलन के नेता, मार्गदर्शक और 'ईस्क्रा' के मुख्य सम्पादक व्लादीमिर इल्यीच थे।

व्लादीमिर इल्यीच को रूस से मज़दूरों और 'ईस्क्रा' के एजेण्टों से बड़ी संख्या में पत्र, लेख, आदि मिलते थे और लगभग सब कूट भाषा में लिखे होते थे। वह उन्हें 'ईस्क्रा' में छापते, मज़दूरों के पत्रों के जवाब देते, 'ईस्क्रा' के लिए लेख तैयार करते और साथ ही राजनीति और क्रान्तिकारी संघर्ष के बारे में किताबें लिखते।

दिसम्बर, 1901 से व्लादीमिर इल्यीच अपने लेखों और किताबों को लेनिन नाम से छापने लगे।

यह महान नाम था, एक ऐसा नाम, जिससे शीघ्र ही सारी दुनिया परिचित होने वाली थी।

बोल्शेविक

पहाड़ों के देश स्विट्ज़रलैण्ड में नीली जेनेवा झील के तट पर एक ख़ूबसूरत शहर है – जेनेवा। उसके बाहर, झील से थोड़ी ही दूरी पर सेशेरोन नाम की मज़दूर बस्ती में एक छोटा-सा दोमंज़िला मकान था। और मकानों की तरह उसकी छत भी खपरैल की थी। खिड़कियाँ नीले रंग की थीं और मकान के साथ एक छोटा-सा हरा-भरा बग़ीचा भी था।

इस मकान में इल्यीच दम्पति, यानी व्लादीमिर इल्यीच और नदेज़्दा कोन्स्तान्तिनोव्ना रहते थे।

पहले वे म्यूनिख़ में रहते थे। मगर वहाँ की पुलिस को 'ईस्क्रा' की गन्ध लग जाने की वजह से उन्हें वह शहर छोड़ना पड़ा और वे इंग्लैण्ड की राजधानी लन्दन आ गये। सालभर तक 'ईस्क्रा' लन्दन से निकलता रहा। पर बाद में यहाँ रहना भी ख़तरनाक हो गया। 'ईस्क्रा' के लिए दूसरी जगह ढूँढ़ना ज़रूरी था। तब इल्यीच दम्पति जेनेवा की निकटवर्ती सेशेरोन बस्ती में पहुँचा।

"बहुत ख़ूब!" मिनटभर में सारे मकान का मुआयना करने के बाद व्लादीमिर इल्यीच ने कहा। "बहुत ख़ूब। जगह शान्त है और यहाँ हम चैन से काम कर सकेंगे।"

मकान में नीचे काफ़ी बड़ी रसोई थी और ऊपर दो छोटे, मगर काफ़ी उजले कमरे थे।

व्लादीमिर इल्यीच के पास काम तो बहुत था, पर जिस शान्ति की उन्होंने कल्पना की थी, वह शीघ्र ही मिथ्या साबित हो गयी। बस्ती के निवासियों ने देखा कि रूसियों के यहाँ बहुत लोग आते हैं। जुलाई, 1903 में तो आने वालों का मानो ताँता ही लगा रहा। आगन्तुक कभी अकेले आते तो कभी दो या तीन के दल में। यह पहचानना मुश्किल नहीं था कि वे स्थानीय नहीं हैं – स्थानीय निवासियों से उनका पहनावा भी अलग था और भाषा-बोली भी। वे रूसी बोलते थे और रूसी जाति के थे। साफ़ लगता था कि वे जेनेवा पहली बार आये हैं और यहाँ की हर चीज़ उनके लिए नयी है। उन्हें यहाँ का धूपखिला आकाश, उजले रंग की खिड़कियाँ, और क्यारियों में खिले फूल, सब बेहद पसन्द थे।

हो सकता है कि सेशेरोन के निवासियों को 1903 की गर्मियों में जेनेवा में इतने अधिक रूसियों को देखकर आश्चर्य हुआ हो, मगर उनमें से कोई भी यह नहीं जानता था कि वे सब रूस के विभिन्न भागों से यहाँ पार्टी की दूसरी कांग्रेस में भाग लेने के लिए आये हैं।

कांग्रेस के लिए चुने गये लोग विभिन्न समस्याओं पर विचार-विमर्श करने के लिए लेनिन के पास आते, उनकी राय पूछते। वे जानते थे कि कांग्रेस की तैयारी में सबसे अधिक योग व्लादीमिर इल्यीच ने दिया है। कांग्रेस की तैयारी के तौर पर व्लादीमिर इल्यीच ने 'ईस्क्रा' में बहुत-से लेख लिखे थे, पार्टी का गठन किस तरह करना है, इसके बारे में 'क्या करें?' नामक एक शानदार किताब लिखी थी और पार्टी की नियमावली तथा जुझारू कार्यक्रम तैयार किया था। "हम समाज का नया, बेहतर गठन चाहते हैं। इस नये, बेहतर समाज में न कोई अमीर होगा, न ग़रीब। सभी को समान रूप से काम करना होगा," लेनिन ने साथियों को समझाया।

लेनिन ने इन सब बातों के बारे में बहुत सोचा था। वास्तव में पार्टी कार्यक्रम की रूपरेखा उन्होंने अपने निर्वासन काल में ही तैयार कर ली थी। अब वह चाहते थे कि कांग्रेस में सभी मिलकर तय कर लें कि नये समाज के लिए संघर्ष का सबसे सही और कारगर तरीक़ा क्या है।

जेनेवा से कांग्रेस में भाग लेने वाले ब्रसेल्स पहुँचे। वहाँ एक विशाल, अँधेरे और असुविधाजनक आटा-गोदाम में कांग्रेस का उद्घाटन हुआ। कांग्रेस के लिए गोदाम को साफ़ कर दिया गया था और खिड़कियाँ खोलकर ताज़ी हवा आने दी गयी थी। एक किनारे पर लकड़ियों के तख़्तों से मंच बनाया गया था। बड़ी खिड़की पर लाल कपड़ा टाँगा हुआ था। प्रतिनिधियों के बैठने के लिए बेंचें लगायी गयी थीं। प्रतिनिधि अपनी-अपनी जगह पर बैठ गये। प्लेख़ानोव मंच पर चढ़े। वह पहले रूसी मार्क्सवादी थे और बहुत बड़े विद्वान थे। लेनिन से पहले ही वह मार्क्स के क्रान्तिकारी विचारों के बारे में कई किताबें लिख चुके थे। समारोही वातावरण में प्लेख़ानोव ने कांग्रेस का उद्घाटन किया और अत्यन्त प्रभावशाली भाषण दिया।

सभी ने साँस रोककर उन्हें सुना। व्लादीमिर इल्यीच तो कितने भावाकुल हो उठे थे! उनकी आँखें उल्लास से चमक रही थीं। पार्टी की पुनर्स्थापना और पार्टी कांग्रेस का सपना वह कब से देखते आ रहे थे। आख़िरकार वह साकार हो ही गया।

कांग्रेस की कार्यवाही शुरू हुई, तो लगभग पहले ही दिन से संघर्ष भी छिड़ गया, क्योंकि कुछ प्रतिनिधि लेनिन द्वारा प्रस्तावित जुझारू कार्यक्रम से सहमत नहीं थे।

उन्हें वह बहुत नया और जोखिमपूर्ण लगता था। नवीनता उन्हें डराती थी। अतः वे लेनिन से बहस करने लगे। मगर लेनिन सही थे और अपने पक्ष में उन्होंने इतने जोश और उत्साह से तर्क दिये कि अधिकांश प्रतिनिधि उनकी तरफ़ हो गये। कांग्रेस में पार्टी के कार्यक्रम और नियमावली पर विचार किया गया, केन्द्रीय समिति और 'ईस्क्रा' का सम्पादकमण्डल चुना गया। संघर्ष लगभग सभी प्रश्नों पर छिड़ा। लेनिन ने कांग्रेस में एक रिपोर्ट पेश की, जो इतनी स्पष्ट और विश्वासोत्पादक थी कि सभी प्रतिनिधियों ने उसे असाधारण एकाग्रता के साथ सुना। कांग्रेस की सैंतीस बैठकें हुईं और लेनिन उनमें एक सौ बीस बार बोले। वह बोलते थे, तो जादू कर देते थे। अधिकांश प्रतिनिधि लेनिन के पीछे थे। इसलिए उन्हें बोल्शेविक (बहुमत वाले) कहा जाने लगा। जिन्होंने लेनिन का विरोध किया, वे मेन्शेविक (अल्पमत वाले) कहे गये। बोल्शेविकों के विपरीत, जो अधिकाधिक लेनिन के गिर्द एकजुट हुए, मेन्शेविक क्रान्तिकारी संघर्ष से दूर हटते गये।

कांग्रेस जारी थी, उसकी एक के बाद एक बैठक हो रही थी। मगर अब आटा-गोदाम के आसपास कुछ सन्देहजनक शक्लें भी प्रकट होने लग गयी थीं। वे ताक-झाँक करतीं, पता लगाना चाहतीं कि अन्दर क्या हो रहा है। असल में बेल्जियम पुलिस को सुराग़ लग गया था कि रूसी क्रान्तिकारियों की कांग्रेस हो रही है, इसलिए उसने उनके पीछे अपने भेदियों की पूरी पलटन लगा दी थी। ख़तरा पैदा हो रहा था। कांग्रेस को दूसरी जगह ले जाया गया। सभी लन्दन चले आये। यहाँ कांग्रेस की कार्यवाही जारी रही। जीत लेनिन की हुई। उनके निर्भीक और जोशीले साथी – बोल्शेविक – उनके साथ थे।

...लन्दन में प्रायः बारिश होती है। इस बार तो झिरझिरी इतनी देर तक जारी रही कि लन्दन की सड़कें मानो छतरियों का सागर ही बन गयीं। बीच-बीच में कभी इंग्लिश चैनल से आने वाली हवा घने बादलों को उड़ा ले जाती, थोड़ी देर के लिए नीला आकाश चमक उठता, धूप खिल जाती, मगर फिर वही बारिश।

ऐसे ही एक दिन कांग्रेस के बाद, जब सूरज थोड़ी-सी देर के लिए चमककर फिर बादलों के पीछे छिप गया था, लेनिन ने कहा :

"साथियो! बीस साल पहले यहाँ लन्दन में कार्ल मार्क्स का देहावसान हुआ था। आइये, हम भी महान मार्क्स की समाधि पर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने चलें।"

और सब साथ-साथ क़ब्रगाह की ओर चल पड़े। क़ब्रगाह लन्दन के उत्तरी भाग में एक ऊँचे टीले पर बने पार्क में स्थित थी। टीले से लन्दन का विहंगम दृश्य दिखायी देता था : कालिख से काली पड़ी इमारतें, काली छतें और धुआँ उगलती फ़ैक्टरियों की चिमनियाँ।

मार्क्स की क़ब्र सफ़ेद संगमरमर से बनी थी और चारों तरफ़ हरी-हरी घास उगी हुई थी।

क़ब्र के शीर्ष पर गुलाब के फूल रखे थे। फूलों की पँखुड़ियाँ झुकी हुई थीं, मानो अपना शोक व्यक्त कर रही हों। हलकी-हलकी बारिश हो रही थी। सड़कों पर काली छतरियाँ लिये लोग आहिस्ता-आहिस्ता आ-जा रहे थे।

"साथियो," लेनिन ने सिर से टोपी उतारते हुए कहा, "महान मार्क्स हमारे शिक्षक थे। उनकी क़ब्र के पास खड़े होकर हम शपथ खा लेते हैं कि उनके विचारों के प्रति सदा निष्ठावान रहेंगे और कभी संघर्ष से मुँह नहीं मोड़ेंगे। आगे बढ़ो, साथियो! सिर्फ़ आगे!"

सजेंगे फिर नये लश्कर – मचेगा रण महाभीषण

(पेज 10 से आगे)

लेकिन स्तालिन को समाजवाद की इन समस्याओं का हल करने का कभी मौका नहीं मिला। इसका कारण सोवियत संघ में पार्टी और राज्यसत्ता के भीतर जारी वर्ग संघर्ष और साथ ही द्वितीय विश्वयुद्ध और नात्सी ख़तरे से लड़ने की चुनौती भी था और साथ ही बोल्शेविक पार्टी में मौजूद 'उत्पादक शक्तियों के विकास' के सिद्धान्त का असर भी था। लेनिन ने अक्टूबर क्रान्ति की पाँचवीं वर्षगाँठ पर कहा था कि यह लाज़िमी है कि हम ग़लतियाँ करेंगे और यह समय बतायेगा कि इन ग़लतियों के बावजूद हम समाजवादी सत्ता को टिकाये रख पायेंगे या नहीं। लेकिन अगर हम समाजवादी सत्ता को अन्ततः नहीं भी टिका पाते, तो इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं होगी क्योंकि यह मज़दूर सत्ता और समाजवादी निर्माण का पहला प्रयोग है और वह भी एक ऐसे देश में जहाँ मज़दूर वर्ग अल्पसंख्यक है और टटपुँजिया किसान आबादी बहुसंख्यक और वह भी बेहद प्रतिकूल बाह्य परिस्थितियों में।

सोवियत संघ के समाजवादी प्रयोग के अन्ततः रुक जाने के बावजूद उसने चार दशकों में दिखला दिया कि मज़दूर सत्ता स्थापित हो सकती है और समाजवाद वास्तव में पूँजीवाद का एक कहीं बेहतर विकल्प दे सकता है। यह हमें भुखमरी, बेरोज़गारी, ग़रीबी, वेश्यावृत्ति, ऊँच-नीच, राष्ट्रीय उत्पीड़न और युद्ध से निजात दिला सकता है। इस प्रयोग ने दिखला दिया कि जिस मज़दूर आबादी को अनपढ़, गँवार, पिछड़ा हुआ माना जाना है वह एक विशाल देश में न सिर्फ़ अपनी सत्ता को स्थापित कर सकती है, बल्कि उसे चला सकती है और एक बेहतर समाज की रचना कर सकती है। इस तौर पर, अक्टूबर क्रान्ति ने मानव इतिहास में एक निर्णायक विच्छेद का प्रदर्शन किया और एक नये युग का आरम्भ किया: समाजवादी संक्रमण का युग। इस युग की आरम्भ के बाद मज़दूर वर्ग ने कई अन्य देशों में समाजवादी प्रयोग करके, विशेष तौर पर चीन में, नये मानक स्थापित किये और नये चमत्कार किये। लेकिन ये सभी प्रयोग पहले दौर के समाजवादी प्रयोग थे। मज़दूर वर्ग ने अपनी किशोरावस्था में कुछ महान लेकिन त्रुटिपूर्ण प्रयोग किये। पहले दौर के प्रयोगों के बाद हम एक लम्बे निराशा के दौर से होकर गुज़रे हैं। लेकिन वह निराशा का दौर भी अब अपने ख़ात्मे की ओर है। पूँजीवादी व्यवस्था दुनिया को क्या दे सकती है यह हमारे सामने है। बीसवीं सदी के ये तमाम प्रयोग हम मज़दूरों की साझा विरासत हैं और इस साझा विरासत की नकल करते हुए नहीं बल्कि इससे वैज्ञानिक तौर पर सीखते हुए हम इक्कीसवीं सदी में नयी समाजवादी क्रान्तियों के प्रयोगों को अंजाम दे सकते हैं। इनसे आलोचनात्मक शिक्षण लिये बग़ैर और इन्हें भूलकर हम नये प्रयोग नहीं कर सकते, जैसा कि आज भारत और दुनिया में कई धुरीविहीन "मुक्त-चिन्तक" तथाकथित कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठन कह रहे हैं। इन महान प्रयोगों से सीखना भी होगा और इन महान प्रयोगों से आगे भी जाना होगा। **निश्चित तौर पर, इन तमाम प्रयोगों में महान अक्टूबर क्रान्ति का हमेशा से एक महान स्थान रहा है और रहेगा।**

(अगले अंक में पढ़ें – अक्टूबर क्रान्ति की विरासत और इक्कीसवीं सदी की नयी समाजवादी क्रान्तियों की चुनौतियाँ)

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2014-2016
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 20, प्रत्येक माह

बड़े नोटों पर पाबन्दी - अमीरों के जुर्मों की सज़ा ग़रीबों को

मुकेश त्यागी

अचानक 8 नवम्बर की रात को भारत सरकार ने 500 और 1000 रुपये के चालू नोट प्रचलन से हटा लिये और उनकी जगह 500 और 2000 के नये नोट चालू करने का ऐलान किया। कुछ दिन बाद 1000 का नोट भी दोबारा बाज़ार में आ जायेगा। सरकार के इस फ़ैसले के कई मकसद बताये गये हैं – काले धन पर हमला, भ्रष्टाचार को रोकना, नकली नोट और आतंकवादियों द्वारा उसके इस्तेमाल को रोकना।

ऐसा पहली बार नहीं हुआ है। जनवरी 1946 में भी एक और दस हज़ार के नोट इसी तरह बन्द किये गये थे और 1954 में दोबारा चालू हुए। फिर 16 जनवरी 1978 को जनता पार्टी की सरकार ने भी इसी तरह अचानक एक शाम पाँच सौ, एक हज़ार, 5 हज़ार और 10 हज़ार के नोट बन्द कर दिये थे। इन नोटों को बन्द करने से देश में कितना काला धन, भ्रष्टाचार और अपराध ख़त्म हुए थे, किसी को पता नहीं! इसके बाद पहले 500 का नोट 1987 में दोबारा चालू हुआ और 1000 वाला तो 2001 में पिछली भाजपा सरकार ने चालू किया था। इस बार तो इतना इन्तज़ार भी नहीं करना पड़ा, दो दिन बाद ही उससे भी बड़े नोट वापस चालू कर दिये गये हैं। अगर इन नोटों की वजह से ही देश में काला धन, भ्रष्टाचार और अपराध-आतंकवाद होता है तो फिर इनको स्थायी रूप से ख़त्म करने के बजाय वापस चालू करने का क्या मतलब है? और दो हज़ार का और भी बड़ा नोट ले आने से क्या और ज़्यादा काला धन पैदा नहीं होगा?

फिर इस नोटबन्दी का क्या मतलब है? इसके लिए समझना होगा कि मुद्रा या करेंसी नोट मुख्य तौर पर धन-सम्पत्ति के मूल्य के लेन-देन का जरिया है और अस्थायी सीमित तौर पर सम्पत्ति के खरीद-फरोख्त के लिए ही उसे मुद्रा में बदला जाता है। पूँजीवादी व्यवस्था में धन-सम्पदा नोटों के रूप में नहीं बल्कि ज़मीन-मकान, जंगल, खदान, कारख़ाने, सोना-चाँदी, हीरे-मोती, जैसे दिखायी देने वाले रूपों से भी ज़्यादा देशी-विदेशी कम्पनियों के शेयरों-बॉन्ड्स, देशी-विदेशी बैंक खातों, पनामा-सिंगापुर जैसे टैक्स चोरी के अड्डों में स्थापित काग़ज़ी कम्पनियों और बैंक खातों, मॉरीशस की काग़ज़ी कम्पनियों के पी-नोट्स, वगैरह जटिल रूपों में भी रहती है। मौजूद व्यवस्था में जिनके पास असली सम्पत्ति है वह असल में इसे नोटों के रूप में भरकर नहीं रखते क्योंकि उससे यह सम्पत्ति बढ़ती नहीं बल्कि इसके रखने में कुछ खर्च ही होता है और चोरी जाने का ख़तरा भी होता है; इसके बजाय वह इसे उपरोक्त विभिन्न रूपों-कारोबारों में निवेश करते हैं जिससे उनकी सम्पत्ति लगातार बढ़ती रहे। बल्कि ऐसे लोग तो आजकल बैंक नोटों का रोज़मर्रा के कामकाज में भी ज़्यादा इस्तेमाल नहीं करते क्योंकि ये अपना ज़्यादा काम डेबिट-क्रेडिट कार्ड या ऑनलाइन लेन-देन के ज़रिये करते हैं।

तो अगर सरकारी तर्क को मान लिया जाये कि बड़े नोटों की वजह से काला धन होता है तो मानना पड़ेगा कि अमीर पूँजीपतियों के पास काला धन नहीं होता। इसके विपरीत मज़दूर, छोटे किसान, छोटे काम-धन्धे करने वालों को देखें तो इनका अधिकांश काम नकदी में चलता है। आज महँगाई की वजह से रुपये की कीमत इतनी कम हो चुकी है कि ये ग़रीब मेहनतकश लोग भी अक्सर पाँच सौ-एक हज़ार के नोट इस्तेमाल करते

हैं। इनमें से अधिकांश के बैंक खाते नहीं हैं, हैं भी तो बैंकों में इन्हें विभिन्न वजहों से दुत्कार का भी सामना करना पड़ता है; इसलिए ये अपने मुसीबत के वक्त के लिए कुछ बचत हो भी तो उसे नकदी में और सुविधा के लिए इन बड़े नोटों में रखने को मजबूर होते हैं। वर्तमान फ़ैसले का असर यह हुआ है कि यही लोग काला धन रखने वाले अपराधी साबित हो गये हैं और नोटबन्दी की मुसीबतें मुख्यतया इन्हीं को झेलनी पड़ रहीं हैं।

अब समझते हैं कि काला धन असल में होता क्या है, क्यों और कैसे पैदा होता है और इसका क्या किया जाता है। काले धन का अर्थ है ग़ैरक़ानूनी कार्यों तथा टैक्स चोरी से हासिल किया गया धन। इसको कुछ उदाहरणों से समझते हैं। पिछले दिनों ही बिजली उत्पादन करने वाली बड़ी कम्पनियों द्वारा 60 हज़ार करोड़ रुपये काला धन का मामला सामने आया था। इन कम्पनियों, जिनमें जिंदल, अनिल अम्बानी और गौतम अडानी की कम्पनियाँ भी हैं, ने ऑस्ट्रेलिया से कोयला आयात किया लेकिन ऑस्ट्रेलिया की कम्पनी से सौदा इन कम्पनियों ने नहीं, बल्कि इनकी ही दुबई या सिंगापुर स्थित कम्पनियों ने किया, कहें कि 50 डॉलर प्रति टन पर और फिर अपनी इस कम्पनी से इन कम्पनियों ने यही कोयला मान लीजिये 100 डॉलर प्रति टन पर खरीद लिया। तो भारत से 100 डॉलर बाहर गया लेकिन ऑस्ट्रेलिया 50 डॉलर ही पहुँचा। बीच का 50 डॉलर दुबई/सिंगापुर में इनकी अपनी कम्पनी के पास ही रह गया – यह काला धन है! इससे इन कम्पनियों को क्या फ़ायदा हुआ? इनकी भारतीय कम्पनी ने ज़्यादा लागत और कम मुनाफ़ा दिखाकर टैक्स बचाया; लागत ज़्यादा दिखाकर बिजली के दाम बढ़वाये और उपभोक्ताओं को लूटा; कई बार घाटा दिखाकर बैंक का कर्ज मार लिया जो बाद में आधा या पूरा बट्टे खाते में डाल दिया गया। ऐसे ही अडानी पॉवर ने दक्षिण कोरिया से मशीनरी मँगाने में 5 करोड़ रुपया ज़्यादा का बिल दिखाकर इतना काला धन विदेश में रख लिया। आयात में की गयी इस गड़बड़ी को ओवर इन्वॉयसिंग या अधिक कीमत का फर्जी बिल बनवाना कह सकते हैं। निर्यात में इसका उल्टा या अंडर इन्वॉयसिंग किया जाता है अर्थात सामान ज़्यादा कीमत का भेजा गया और बिल कम कीमत का बनवा कर अन्तर विदेश में रख लिया गया। रिजर्व बैंक ने अभी कुछ दिन पहले ही बताया कि 40 साल में इस तरीके से 170 ख़राब रुपया काला धन विदेश में भेज दिया गया।

विदेश में रख लिया गया यह काला धन ही स्विस बैंकों या पनामा जैसे टैक्स चोरी की पनाहगाहों में जमा होता है और बाद में घूमफिर कर मॉरीशस आदि जगहों में स्थापित कागजी कम्पनियों के पी-नोट्स में लग जाता है और विदेशी निवेश के तौर पर बिना कोई टैक्स चुकाये भारत पहुँच जाता है। विदेशी निवेश को बढ़ावा देने के नाम पर भारत सरकार इस पर फिर से होने वाली कमाई पर भी टैक्स छूट तो देती ही है, यह हजारों करोड़ रुपया किसका है यह सवाल भी नहीं पूछती! जबकि आज 4 हज़ार रुपये के नोट बदलने के लिए भी साधारण लोगों से पैन, आधार, आदि पहचान के सबूत माँगे जा रहे हैं! और जिनके पास यह पहचान ना हों उन्हें अपनी थोड़ी सी आमदनी का यह बहुमूल्य हिस्सा कम कीमत पर दलालों को बेचने पर मजबूर होना पड़ रहा है - 500 के नोट को तीन-चार सौ रुपये में।

फिर देश के अंदर भी विभिन्न तरह से काला धन पैदा होता है। जैसे बेलारी/गोवा आदि में लौह खनन करने वाले रेड्डी बंधुओं जैसे माफिया कारोबारियों ने जितना लौह अयस्क निकाल कर बेचा उससे बहुत कम खातों में दिखाया और बाकी काले धन के रूप में रह गया। लेकिन कुछ अपवादस्वरूप कंजूस किस्म के व्यक्तियों को छोड़कर यह काला धन बैंक नोटों के रूप में नहीं रखा जाता बल्कि ज़मीन-मकान जैसी सम्पत्तियों, बहुमूल्य धातुओं, तथा किस्म-किस्म की कम्पनियाँ-ट्रस्ट-सोसायटी, आदि बनाकर और कारोबार में लगा दिया जाता है जिससे और भी कमाई होती रहे। टाटा-बिड़ला-अम्बानी जैसे तथाकथित "सम्मानित" घरानों से लेकर छोटे उद्योगपतियों-व्यापारियों तक सभी टैक्सचोरी करते हैं और चोरी की उस रकम को बार-बार निवेश करते रहते हैं। इन्हें टैक्स वकीलों, चार्टर्ड एकाउंटेंटों और खुद सरकारी अमले की मदद भी मिलती है। ऊपर से ये बैंकों के भी खरबों रुपये दबाकर बैठे हैं। हाल की सरकारी रिपोर्ट के अनुसार सिर्फ़ 57 लोगों के पास बैंकों के 85,000 करोड़ रुपये बाक़ी हैं। मोदी सरकार ने पिछले फरवरी में एक झटके में धन्नासेठों के 1 लाख 14 हज़ार करोड़ के कर्ज़े माफ़ कर दिये। यह सारा काला धन आज भी शान से बाज़ारों में घूम रहा है और अपने मालिकों के लिए कमाई कर रहा है।

अगर आपराधिक गतिविधियों के बारे में भी बात करें हमें समझना होगा कि पूँजीवादी व्यवस्था में बड़े अपराध भी व्यावसायिक ढंग से ही चलते हैं ना कि फ़िल्मी-टीवी वाले तरीकों से, जिनमें अपराधी नोटों के सूटकेस लेकर आते-जाते दिखाई जाते हैं। असल में तो पूँजीवाद में ये अपराध भी कारोबार ही हैं, इनसे पूँजी इकट्ठा होती है, जिससे अधिकांश गिरोह बाद में इज़्ज़तदार पूँजीपति और कॉरपोरेट बन जाते हैं। बहुत से पूँजीपति घरानों या कॉरपोरेट का इतिहास देखिये तो आप यही पायेंगे। आज की दुनिया में हथियारों, नशीली वस्तुओं, आदि जैसे बड़े ग़ैरक़ानूनी व्यापार बिटकॉयन जैसी डिजिटल मुद्राओं के ज़रिये चलते हैं जिनका लेन-देन ऑनलाइन किया जा सकता है। सिर्फ़ सबसे छोटे स्तर पर लेन-देन नोटों में होता है जो कुल धंधे का बहुत छोटा हिस्सा है जिसे हम सबकी तरह ही कुछ समय के लिए ठिकाने लगा लिया जायेगा। इसलिये इस नोटबन्दी से इन बडे अपराधियों को भी कोई ख़ास दिक्कत पेश नहीं आने वाली।

उपरोक्त से यह तो साफ ही है कि घरों में नोटों के ढेर ना लगाकर, बैंकों के ज़रिये ही यह काला या चोरी का धन विभिन्न कारोबार में लग जाता है। इसलिए नोटबन्दी से इन असली कालाधन वाले कारोबारियों को ना तो कुछ नुकसान होने वाला है ना ही इनका काले धन का चोरी का कारोबार रुकने वाला है। अगर इनके पास तात्कालिक ज़रूरत के लिए कुछ नोट इकट्ठा हों भी तो भी वर्तमान व्यवस्था में राजनेताओं, अफसरों, पुलिस, वित्तीय व्यवस्था में इनका रुतबा और पहुँच इतनी गहरी है कि उन्हें खपाने में इन्हें कोई ख़ास दिक्कत नहीं आती। कुछ कमीशन-सुविधा शुल्क देकर उनके काले धन को ठिकाने लगाने में इन्हें कोई तकलीफ़ पेश आने वाली नहीं है।

एक और तरह भी हम समझ सकते हैं। भारत की 84% सम्पत्ति के मालिक मात्र 20% लोग हैं जबकि शेष 80% के पास सिर्फ़ 16% सम्पत्ति है। क्या कोई मान सकता है कि 20% अमीर लोगों के बजाय इन 80% ग़रीबों के पास काला धन है? लेकिन ये 80% लोग की मज़दूरी-आमदनी नकदी में है, इनका लेन-देन, कर्ज, बचत, आदि सब नकदी में है। इनके पास 500 या एक हज़ार के नोट भी हैं और अब इन्हें इनको बदलने में सिर्फ़ तकलीफ़ ही नहीं उठानी पड़ रही बल्कि इन्हें लूटा भी

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक: सुखविन्दर, अभिनव • सम्पाकीय पता: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006